गिरिनार जी की प्रथम टोंक के क्षेत्र में
तीन दिगम्बर जैन मन्दिर

गिरिनार गौरव

जैन इतिहास ग्रन्थमाला, पुष्प—२

गिरिनार-गौरव

लेखकः—
स्व० डा० कामता प्रसाद जैन
अलीगंज (एटा)
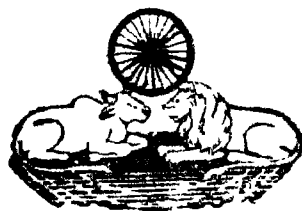
१९७२

प्रकाशक—
श्री अ० विश्व जैन मिशन
अलीगंज [एटा]
उ० प्र०

तृतीय संस्करण } { १०००

* आभार प्रदर्शन *

(प्रथम संस्करण)

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमान सेठ फतहलाल जी खासगीवाला, मन्त्री श्री बन्डीलाल जी दि० जैन गिरिनार तीर्थक्षेत्र कमेटी प्रतापगढ़ की ही प्रेरणा से लिखी गई है और आपके ही सहयोग से प्रकाश में आ रही है। आपके सुझाव पर इस पुस्तक के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय श्री बन्डीलाल जी दिगम्बर जैन गिरिनार तीर्थक्षेत्र कमेटी, जूनागढ़ ने प्रदान किया है। एतदर्थ मिशन मन्त्री जी एवं कमेटी का अत्यन्त आभारी है।

विनीत—
कामताप्रसाद जैन
प्र० सचालक
श्री अ० वि० जैन मिशन, अलीगंज (एटा)

(द्वितीय एवं तृतीय संस्करण)

द्वितीय संस्करण का प्रकाशन भी श्रीमान कैलाशचन्द्र जी खासगीवाला, उपमन्त्री श्री बन्डीलाल जी दिगम्बर जैन गिरिनार तीर्थक्षेत्र कमेटी प्रतापगढ़ के निर्देशानुसार श्री बन्डीलाल जी दिगम्बर जैन गिरिनार तीर्थक्षेत्र कमेटी, जूनागढ़ के अर्थ-व्यय से हुआ था। अब इस तृतीय संस्करण का प्रकाशन भी श्री बन्डीलाल जी दिगम्बर जैन गिरिनार तीर्थक्षेत्र कमेटी, द्वारा हो रहा है। एतदर्थ धन्यवाद।

विनीत—
वीरेन्द्रप्रसाद जैन
स० संचालक
श्री अ० वि० जैन मिशन, अलीगंज (एटा)

दो शब्द

श्री गिरिनार तीर्थ क्षेत्र की गौरव गरिमा को पुस्तक रूप में प्रकाशित कराने का मेरा विचार हो रहा था कि सन १६३६ में राणा त्रिभुवनदास जी एडवोकेट व भूतपूर्व दीवान जूनागढ़ राज्य से राजकोट में मिलना हुआ। उस समय श्री गिरिनार पहाड़के लिए जूनागढ़ राज्य व श्वेताम्बरियों की आपसी जांच के वास्ते कमीशन नियुक्त हुआ था। उस कमीशन में उपरोलिखित राणा साहब सरकार की ओर से पैरोकार नियुक्त हुए थे। उनसे वार्तालाप होने पर इस तीर्थराज सम्बन्धी विवरण व वृतान्त आदि पर विचार कर शास्त्रीय व ऐतिहासिक आदि पुरात्व एकत्रित कर पुस्तक रूप में प्रगट कराने का मेरा विचार और भी दृढ़ हो गया। अतएव मैं इस विषय में कई एक जैन व अजैन विद्वानों व इतिहासज्ञों से कुछ प्रश्नोत्तर को लेकर लिखा पढ़ी करता रहा और श्री गिरिनार तीर्थ सम्बन्धी लेखन जिस किसी पुस्तक में हो उसकी खोज में रहा। यद्यपि कुछ अजैन विद्वानों ने मेरे पत्रों के जबाब देने की अवश्य कृपा की, परन्तु हमारे जैन विद्वानों की तरफ से कोई विशेष रुचि इसमें प्रगट न की गई। एकमात्र श्रीमान बाबू साहब कामताप्रसाद जी, संचालक अ० वि० जैन मिशन और सम्पादक 'अहिंसा वाणी' अलीगंज ने सहानुभूति प्रगट करने की कृपा की और मेरी प्रार्थना पर आपने सामग्री एकत्रित कर इस पुस्तक को लिखने का भार अपने ऊपर लेना स्वीकार कर मुझे कृतज्ञ किया।

श्री कामताप्रसाद जी ने अत्यन्त परिश्रम के साथ कई एक जैन श्वेताम्बर, दिगम्बर शास्त्र व अजैन, वैदिक व हिन्दूशास्त्र पुराण एवं पाश्चात्य विद्वानों व यात्रियों की पुस्तकों व शिलालेखों आदि का अध्ययन कर यह एक छोटी-सी पर अतीव महत्वपूर्ण पुस्तक लिखकर 'गागर में सागर' भर देने की उक्ति को चरितार्थ किया है।

आपने जैनधर्म व दिगम्बर मत की प्राचीनता तथा दिगम्बर मान्यता के अनुसार इस तीर्थराज की महान पवित्रता व प्राचीनता अत्यन्त ही सुन्दर ढङ्ग से और वास्तविक प्रमाणों के साथ सिद्ध कर बतायी है। आपकी जैन और अहिंसा धर्म के प्रचार के प्रति अनेक सेवायें हैं, जिनसे पाठकगण परिचित हैं ही, परन्तु 'श्री गिरिनार गौरव' नामक पुस्तक लिखकर इस तीर्थराज की ही नहीं, वरन जैनधर्म एवं सारे दिगम्बर समाज के प्रति आपने महान सेवा की है; जिसके लिए मैं तथा हमारी बंडीलाल जी दिगम्बर

जैन कारखाना गिरिनार कमेटी श्रीमान बाबू कामताप्रसाद जी के आभारी हैं। आपने 'गिरिनार गौरव' क्या लिखा है, उसमें आपने अपनी अटूट भक्ति भर दी है! कोई श्रद्धालु व्यक्ति इसे पढ़कर भक्ति से आनन्द विभोर हुए बिना रह नहीं सकता और इतिहास तो यह है ही!

मुझे अत्यन्त खेद के साथ प्रगट करना पड़ता है कि हमारे दिगम्बर समाज मुख्यत: विद्वत समाज की जैन इतिहास के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं रही है। परिणामत: जैनधर्म के प्रति साम्प्रदायिकता ने अत्यन्त अन्याय किया है और वास्तविकता पर परदा डाल रखा था; परन्तु अब यह देखकर हर्ष है कि पाश्चात्यिक एवं अन्य भारतीय निरपेक्ष विद्वानों ने अनुसंधान करके यह परदा हटाया व सत्य को चमकाया है। इतने पर भी खेद है कि सरकारी पाठ्य पुस्तका आदि मे अभी तक वही पुरानी लकीर पीटी जाती है। इसलिए विद्वानों से प्रार्थना है कि उन पुस्तकों में सुधार कराने का प्रयत्न करें, जिससे सत्य व वास्तविकताके प्रकाश में आकर अन्याय दूर हो और जैनधर्म के प्रति श्रद्धा बढ़।

श्रीमान बाबू कामता प्रसाद जी साहब ने संक्षेप में जो वर्णन किया है उससे भलीभाँति विदित होगा कि यह बंडीलाल जी दिगम्बर जैन कारखाना गिरिनार किस तरह से स्थापित हुआ व तबसे इस तीर्थराज व समाजकी सेवा किस उत्साह व उमंग से कर रहा है। विशेष लिखने की आवश्यकता नही है परन्तु इतना अवश्य लिखना आवश्यक है कि इस कारखाने को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए हमेशा कई आपत्तियों का सामना करना पड़ता रहा है। पहाड़ पर नेमिनाथ का मन्दिर जिसे अब मानसिंह भोजराज का कहा जाता है दिगम्बर था। कर्नल टाड ने भी अपनी यात्रा के वर्णन में दिगम्बर होना लिखा है इसके अतिरिक्त और भी दिगम्बर मन्दिर आदि पर्वत पर थे। फिर भी इस तीर्थराज का प्रबन्ध एक होने पर सब अपनी अपनी मान्यता के अनुसार शान्ति से पूजन प्रक्षाल करते चले आ रहे थे परन्तु धीरे धीरे श्वेताम्बर भाइयों का अधिकार बढ जाने से दिगम्बरियों को बाधा उपस्थित होने लगी जो असहनीय होने से बंडीलाल जी के पौत्र कस्तूरचन्द्र जी हीरालाल जो प्रतापगढ़ निवासी जो बड़े धर्मात्मा व शान्ति प्रिय थे उन्होंने मन्दिर व सम्पत्ति आदि के विभाजन के लिये कलह न बढ़ायी और हजारों रुपये खर्च कर अपना कारखाना मन्दिर धर्मशाला आदि सब नवीन पृथक बना लिए। इस पर शान्ति न धारण कर हमारे श्वेताम्बर भाइयों के तरफ से बराबर कुछ न कुछ नवीन छोटा मोटा झगड़ा उत्पन्न होता ही रहता है। इसमें मुख्य मुख्य उल्लेखनीय इस प्रकार है—सहसाम्र वन की श्री नेमिनाथ जी प्रभु के चरणों की देहरियों पर अपना अधिकार जमाकर हमारे यात्रियों का बाधाये उपस्थित करना आरम्भ किया व किले में अपनी धर्मशाला बनवाने के कार्य को रोक कर धर्मशाला को

ही हड़प करना चाहा, जिसके मुकदमें होकर श्री केड़ल साहब दिवान के इजलास से १९३३ में फसले न० १०,३०८ से अपना अधिकार व पूजा प्रक्षाल आदि सहस आम्र वन की दोनों देहरियों के बराबर होना मानी गई। व पहाड़ पर धर्मशाला अपनी का निर्णय अपने ही लाभ में रहा—इसी तरह पर श्री राजुलजी की गुफा के प्रति भी पहिले हस्तक्षेप करना चाहा परन्तु सफलता प्राप्त न हो सकी आदि।

श्री सम्मेद शिखर जी की तरह इस तीर्थराज पर भी सम्पूर्ण पहाड़ पर श्वेताम्बरां ने अपना अधिकार बताया और राज्य प्रकरणी सभा में दावा किया, जिसके लिये भी कमेटी को समय समय पर कई वर्षों तक सतर्कता से प्रयत्नशील रहना पड़ा। सम्पूर्ण पहाड़ पर इनके अधिकार का दावा तो असफल रहा, कई वर्षो तक इन्होंने प्रयत्न किए परन्तु इन्हें सफलता प्राप्त न हो सकी। मोन्टीथ साहब दीवान जूनागढ़ पर प्रभाव डालकर जूनागढ़ राज्य व श्वेताश्वरीयों के बीच एक अँग्रेज का व्यक्तिगत आयोग भी नियुक्त कराया और सरकार की ओर से उपरोक्त श्री राणा त्रीभुवनदास जी पेरोकार नियुक्त हुये। आयोग का कार्य आरम्भ होने वाला था कि हमारे संरक्षक तीर्थभक्त रावराजा श्रीमान सर सेठ साहब हुकुमचन्द्र जी नाईट के पत्र ने श्री नबाब साहब जूनागढ़ की आंखें खोल दीं व सर सेठ साहब के जूनागढ पधारने का नबाब साहब पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि आयाग वगैरा उनके पहुँचते ही केनसल हो गया। कहने का तात्पर्य यह हैं कि श्वेताम्बर भाई नबाबी जूनागढ़ राज्य से अपनी-इच्छाओं को पूरा नहीं करा सके तो वह इच्छा स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर सौराष्ट्र सरकार के राजस्वमंत्री सामलदास गांधी से पूर्ग करवा ली। मोन्टीथ साहब ने तो आयोग की हो आड़ रखी थी परन्तु सामलदास जी गांधी ने तो स्वयं ही एक तरफा श्वेताम्बरीयों की इच्छा अनुसार फैसला कर दिया और उसे सौराष्ट्र सरकार व श्वेताम्बरीयों के मध्य में एक समझौते का रूप दे दिया और हमें मौखिक व लिखित आश्वासन देते हुए भी हमारे अधिकारों का कुछ ध्यान नहीं रखा व हमारे लाभ के राजुल की गुफा तथा सहस्त्र आम्र वन व पहाड़, धर्मशाला व उसके पीछे की भूमि आदि के लिए सरकारी फैसले व सनदों आदि थे उनका उस समझौते में कुछ वर्णन तक नहीं किया।

इस पर श्रीमान मुख्य मंत्री यु०एन० ढेबर भाई साहब की सेवा में उपस्थित होकर सब स्थिति निवेदन की गई और अपनी तरफ से अपने अधिकारों को समझौते में स्पष्ट कर देने की इच्छा प्रगट की गई।

श्रीमान ढेबर भाई मुख्यमंत्री सौराष्ट्र जो वर्तमान में अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष के पद को सुशोभित कर रहे हैं बड़े न्याय प्रेमी और महात्मा-गांधी जी के एक महान आदर्श अनुयाई हैं—जब उन्हें यह विदित हो गया कि हमारे अधिकारों पर चालाकी से किस प्रकार कुठाराघात किया

गया है तब उनकी न्याय व सत्यप्रिय आत्मा को ठेस लगी और उन्होंने उसी समय सामलदास जी गाँधी को बुलाकर पूछताछ की तो आवेदन पत्र के अनुसार दिगम्बरियों के इन सब अधिकारों के प्रति किसी प्रकार का उजर नहीं है जिस पर मुख्य मंत्री जी ने कहा कि इसका लिखित स्पष्टीकरण साथ ही हो जाना था, जिस पर सामलदास जी गाँधी ने जल्द स्पष्टीकरण करा देने का आश्वासन श्रीमान् मुख्य मंत्री जी साहब को हमारे प्रतिनिधि मंडल के समक्ष दिया परन्तु उनके थोड़े ही समय पश्चात अपना पद त्याग देने से वचन पूरा नहीं कर सके। इस पर से मुख्यमंत्री जी साहब ने न्याय के हेतु मामला अपने हाथ में लिया और समझौते के अनुसार सरकार से सम्बन्धित जो अधिकार श्वेताम्बरियों को दिये गए थे उसी अनुसार दिगम्बरियों को भी दिये और जिन बातों का सम्बन्ध श्वेताम्बरियों, दिगम्बरियों के बीच था वह आपस में अपने समक्ष निपटा देने का प्रयत्न किया और श्वेताम्बर, दिगम्बर की सम्मिलित मीटिंग राजकोट में अपने समक्ष बुलाई।

श्वेताम्बरियों की ओर से श्रीमान् सेठ कस्तूर भाई लालभाई अध्यक्ष आनन्द जी कल्याण जी पेढी आदि उपस्थित हुए और दिगम्बरियों की ओर से श्री गिरिनार कमेटी के सदस्य व श्री सेठ साहब भागचन्द्र जी सोनी और श्रीमान रायबहादुर सेठ राजकुमारसिंह जी आदि नेता गण थे।

मीटिंग में तय पाया कि श्री कस्तूरभाई व श्री रामजी भाई दोशी मोरगढ दोनों मिलकर इस मामले पर विचार कर श्रीमान ढेबर साहब मुख्य मंत्रीके समक्ष सब बातें रक्खें। फिर इन तीनों महानुभावों के आपस में विचार विमर्श होकर दिगम्बर समाज के सदस्यों व नेताओं को अपने समक्ष बुलाये और श्री कस्तूरभाई ने दिगम्बरियों के अधिकारों को सहर्ष मानते हुए और सनातन अनुसार आपसी वर्ताव रहने आदि का श्री ढेबर भाई व श्री रामजी भाई के समक्ष शुद्ध हृदय से आश्वासन दिया और उसी ने समय अधिक होने का कहकर जो बातें तय पाई हैं, उनको उसी तरह लिखकर मसौदा बहुत समय पश्चात श्री कस्तूर भाई ने श्री रामजी भाई के पास भेजा। उसमें समझौते के विपरीत परिवर्तन होने से फिर कुछ समय बाद अहमदाबाद में दोनों सम्प्रदायों की मीटिंग हुई, उसमें श्री रामजी भाई व श्री कस्तूर भाई की राय से मसौदा परिवर्तन कर ठीक किया गया। वह मसौदा श्री कस्तूर भाई की तरफ से साफ होकर अभी तक श्री रामजी भाई के पास नहीं भिजवाया जिससे लिखित नहीं हुआ।

श्वेताम्बरियों के समझौते के आधार पर उन्होंने किले का कोट फोड़ कर तामीर आरम्भ किया जिससे अपने अधिकार पर प्रभाव पड़ने से अपनी प्रार्थना पत्र पर फैसले तक सौराष्ट्र सरकार ने श्वेताम्बरियों को तामीर व

परिवर्तन करने से रोकने का आदेश दिया।

वैसे तो यह तीर्थराज एक महान पवित्र और पूज्यनीय है ही, परन्तु दिगम्बरीयों के लिए तो इसका महत्व कई प्रकार से पवित्रता का अधिकाधिक है, कारण हमारी मान्यता अनुसार श्री नेमिप्रभु के सिवाय और भी महान पुरुष श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार, शम्भूकुमार, अनिरुद्धकुमार आदि बहत्तर करोड़ सात सौ मुनिराज यहां से मोक्ष पद को प्राप्त हुए हैं और श्री नेमिप्रभु के तो एक नहीं वरन तीन तीन कल्याणक इसी तीर्थराज पर हुए है। और आज श्रुतज्ञान की पवित्र गंगा जो बह रही है उसका स्रोत भी यही पवित्र तीर्थराज है कि जहाँ पूज्य श्रुतधर श्रीधरसेनाचार्य ने श्री पुष्पदन्त को श्रुतज्ञान देकर लिपिबद्ध कराया जो धवल, जयधवल, महाधवल के रूप में प्रकाशित होकर प्राणियों का कल्याण कर रहा है। इसके सिवाय विशेषता यह भी है कि यहाँ पर बिना किसी साम्प्रदायिक भेदभाव के श्वेताम्बर, दिगम्बर, हिंदू, वैष्णव, शैव्य आदि अपनी अपनी मान्यता के अनुसार जो मुख्य मुख्य टोंकों, शिखरों पर चरण पादुकायें हैं उनकी पूजा प्रक्षाल आदि करते आ रहे है। परन्तु श्वेताम्बर भाइयों के साथ समझौता होने के कारण तथा कुछ बाहरी बाधाओं के आने से कभी कभी कोई बाबा यात्रियों के साथ बाधा उपस्थित कर देता है, परन्तु सरकार की ओर से ऐसे सावजनिक पूजा स्थान पर किसी भी प्रकार किसी को बाधा उपस्थित नहीं हो सके, इसका प्रबन्ध रहता है। यह समय अब सम्प्रदायिकता का नहीं है। मुख्य रूप से इस तीर्थराज की विशेषता यही हो रहै कि सम्प्रदायों के मध्य शाति व सद्भावना की गंगा बहती चली आई है। विश्वास है कि उसी तरह सब उपस्थित बाबा लोग भी हमेशा सनातन धर्म के अनुसार यात्रियों के प्रति सद्भावना व सहानुभूति व शिष्टाचार के साथ व्यवहार करेंगे और श्री कस्तूर भाई लाल भाई अध्यक्ष पेढ़ी आनन्द जी कल्याण जी एक बड़े समाज व राज्य मान्य व श्रीमान नेता हैं। उनसे भी यह आशा है कि समय का विचार करेंगे और श्रीमान ढेभर भाई व श्रीराम जी भाई ऐसे आदर्श महान सत्य व न्याय प्रेमियों के समक्ष निर्णय हुआ हैं उसको अन्तिम लिखित रूप जल्द देंगे।

श्रीमान ढेभरभाई साहब मुख्यमंत्री जो वर्तमान में अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष हैं उनका हमारी कमेठी व दिगम्बर समाज अत्यन्त आभारी है। आपको जब जब कष्ट दिया गया अत्यन्त शांति के साथ सुनवाई की आपके पास से कभी निराश नहीं जाना पड़ा और आपने न्याय देने तथा इस तीर्थराज पर हमेशा की तरह शांति की गंगा बहती रहे इसके लिए पूर्ण परिश्रम व प्रयत्न किया। इसी तरह मैं श्रीमान रामजी भाई दोशी व श्रीमान सेठ बेचरलाल भाई जस्मानी का भी आभारी हूं कि जिन्होंने इस तरह पर समय समय पर इस समस्या में पूर्ण रूप से सहायता

व सलाह देकर न्याय की प्राप्ति के लिए सहायता की !

श्रीमान रावराजा सरसेठ साहब हुक्मचन्द्र* जी नाईट जो इस तीर्थराज कमेटी के संरक्षक हैं वे इस तीर्थ की रक्षा के लिए रात दिन एक करके बड़ी लगन के साथ जो प्रयत्नशील रहे हैं व रहते हैं और हम लोगों को सहायता व उत्साह दिलाते रहते है उसके लिए धन्यवाद है और यह शुभ कामना है कि आप आरोग्य रहें और जैनधर्म के प्रति आपकी सेवायें व उसकी रक्षा के लिए जो आपकी लगन है वह हमेंशा वृद्धिगत रहे। इसके साथ ही दूसरे हमारे नेतागण श्रीमान केप्टिन रायबहादुर सर भागचन्द्र जो साहब सोनी तथा श्रीयुत भैय्या साहब राजकुमार सिंह जी; रायबहादुर सेठ मोतीलाल जो राणी वाले, सेठ बेचरलाल जी जस्सानी व श्री भाई रतनचन्द्र जी महामंत्री तीर्थ क्षेत्र कमेटी व सेठ बैजनाथ जी सरावगी आदि को भी हार्दिक धन्यवाद है कि जब आपको इस मामले मे कष्ट दिया गया आपने सहर्ष सहायता दी तथा प्रतिनिधि मंडल मे आने का कष्ट भी किया।

मैं अपनी कमेटी के सदस्यों आदि का भी अत्यन्त आभारी हूँ कि इस महान कार्य में अपना अमूल्य समय निकाल कर समय समय पर आवश्यकता अनुसार राजकोट, गिरिनार आदि आने जाने का कष्ट करते रहते है—वह हर तरह मुझे इस कार्य मे सहायता देकर कार्य को सुगम बनाने में सहायता करते है। सभापति जी साहब मिल्टनलाल जी व उपसभापति सेठ झमकलाल जी बडो व दिवान साहब शाह माणकलाल जी सेठ शोभागमल जी साहब तलाटो बकील साहब जवेरलाल जी दोशी आदि के नाम उल्लेखनीय है।

अन्त में श्रीमान बाबू कामताप्रसाद जी साहब के प्रति पुन: आभार प्रदर्शित करूँगा कि उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर अत्यन्त परिश्रम के साथ खोजकर जो यह गिरिनार गौरव नामक पुस्तक लिखकर अपनी सेवा व उत्साह का परिचय दिया वह सराहनीय है।

—फतहलाल खासगीवाला*

मंत्री—बंडीलाल जी दिगम्बर जैन कारखाना गिरिनार प्रबन्धकारणी सभा

---

* अब आपका स्वर्गवास हो गया है।

विषय सूची

चित्र सूची

प्रस्तावना

भारत धर्म प्रधान देश है। भातीयों के धर्मभाव ने उन्हें प्रकृति का उपासक बनाया है। 'सत्यं शिवं सुन्दरं'—सूत्र को मूर्तमान बनाने के लिए वे जागरूक रहे हैं। उस पर जैन तो इस दिशा में सर्व-अग्रणी हमेशा से ही रहे हैं। उन्होंने प्रकृति के रम्य एकान्त स्थानों को ढ़ूंढ ढ़ूंढ कर अपनी साधना और तपस्या की लीलाभूमि बनाया है। जैन योगी प्रकृति का होकर रहता ही है। कैलाश जैनों का पहला तीर्थ है, जो अपने सौन्दर्य और महानता के लिए लोक विख्यात है। गुजरात में गिरिनार पर्वत भी जैनों का प्राचीन तीर्थ है, जो अपना निराला प्राकृतिक सौन्दर्य रखता है।

तीर्थ परिचायक पुस्तकें रखने का सुझाव

हमारे पूज्य तीर्थकरों और आचार्यों ने अपनी ज्ञानाराधना और तपश्चर्या से प्रकृति के सुन्दर क्षेत्रों को दुनियां के सामने ला रक्खा और उनको तीर्थ का रूप दिया, किन्तु यद्यपि जैनों ने उन तीर्थों की द्रव्य रूप भक्ति में अपनी लक्ष्मी को पानी की तरह बहाया है, पर उनके महात्म्य और इतिहास को प्रकाश में लाने की ओर से बेखबर रहे हैं। यही कारण है कि तीर्थों का परिचय और उनकी स्थिति का परिज्ञान तक किन्हीं लोगों को नहीं है। इसी कमी को ध्यान में लेकर हमने जैन तीर्थों के इतिहास पर प्रकाश डालना अपना कर्तव्य समझा। तदनुसार कम्पिला, श्रावस्ती, काकंदी और श्रवणबेलगोल नामक तीर्थों की परिचायक पुस्तकें प्रगट हो चुकीं हैं और श्री गिरिनार तीर्थ पर प्रस्तुत पुस्तक प्रगट की जा रही है।

आभार !

प्रस्तुत पुस्तक गिरिनार दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के कर्मठ मंत्री और हमारे सहृदय मित्रवर श्री सेठ फतहलाल जी खासगीवाला के सत्साहस प्रेरणा और सहयोग से ही प्रगट हो रही है, वरन उसका इस रूप में प्रगट होना अशक्य ही था। हम मिशन की ओर से उनका आभार स्वीकार करते हैं। निस्सन्देह उन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित कराकर गिरिनार तीर्थ के महत्व और कीर्ति में चार चांद लगा दिए हैं। यही नहीं कि उन्होंने मात्र आर्थिक सहयोग दिया है, बलिक उन्होंने ग्रन्थ—विषयक कई उपयोगी सुझाव भी दिये हैं उनका आदर्श अन्य तीर्थ प्रबन्धक महोदयों के लिए अनुकरणीय है।

जैनधर्म की प्राचीनता व उसकी आवश्यकता !

श्री फतहलाल जी ने यह भी सुझाव दिया कि पुस्तक की आदि में जैन

धर्म की प्राचीनता और विशेषता पर भी प्रकाश डाला जावे तो अच्छा है। निस्सन्देह उनका यह सुझाव इस समयकी एक आवश्यकता है। आज भारतीय शिक्षाक्रम में भी सुधार होने जा रहा है—पुरानी गलतियों को इस समय सुधारा जाना जरूरी है। भारतीय इतिहास की पुस्तकों में जैन धर्म का आदि उपनिषद —काल के पश्चात अन्तिम तीर्थङ्कर भ० महावीर से बताकर ऐतिहासिक सत्य का गला घोंटा गया। अत: जैनों को इस समय जैन धर्म का प्राचीन रूप प्रमाणित करना परमावश्यक है। अतएव इस प्रस्तावना में जैन धर्म की प्राचीनता को सिद्ध करने का प्रयास करना उपादेय है। इससे गिरि-नार तीर्थ की महत्ता प्रकर्षित होगी।

साधन-सामग्री

जैनधर्म की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए जैनों की अपनी मान्यतायें और ग्रन्थ तो है ही, परन्तु हम उन पर ही निर्भर नहीं रहेंगे। निस्संदेह विद्वानों ने जैन ग्रन्थों के वर्णन को इतिहास के लिए उपयोगी पाया है, और जैन मान्यतायें एवं अनुश्रुतियाँ (Traditions) ऐतिहासिक तथ्य को लिए हुए प्रमाणित हुई हैं। अत: वे विश्वसनीय हैं जैन अपनी बात न बतायेंगे तो कौन बतायेगा? उनकी बात दूसरे श्रोतों से भी सिद्ध हो तो बात ही निराली हैं। इसीलिए हम 'अपनी बात' को वैदिक और बौद्ध साहित्य एवं पुरातत्व की साक्षी से प्रमाणित करेंगे। यही हमारी साधन सामग्री है, जो जैनधर्म की प्राचीनता को सूर्य प्रकाश की तरह चमका देगी, यह विश्वास है। विद्वज्जन इस प्रकाशन में आकर अपनी भ्रान्त धारणा को खो देंगे यह आशा है।

जैनों की प्राचीनतम मौलिक मान्यतायें !

जैनों की सिद्धांत की कतिपय मान्यतायें ही उसको प्राचीन सिद्ध करती हैं। उदाहरण के रूप में निम्नलिखित बातें उपस्थित की जाती हैं—

(१) जैनधर्म में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में जीवित शक्ति अर्थात् जीव का होना बतलाया गया हैं। Enthology विद्या के निर्णयानु-सार यह मत सर्व प्राचीन मनुष्यों का होना चाहिए कि वनस्पति में जीव है। यह बात बोस-सिद्धान्त से सिद्ध है। पृथ्वी में भी जीव हैं—इस बात को लन्दन के एक वैज्ञानिक ने सिद्ध किया हैं, जो एक क्यूबिक इंच पृथ्वी (Soil) में कम से कम पाँच करोड़ पृथ्वी कायिक जीव बताते हैं।[१] इसी

---

1 "We find that soil is life, and that a living soil contains a mass of micro-organic existence .... We learn that there is a miniuum of 5-millions of these denizens to the cubic inch of living soil."

—F. Sykes, (The Sower, winter, 1952-53)

प्रकार जल के जीवों का भी विज्ञान सिद्ध करता है और अग्नि भी जीवों से खाली नहीं हैं। पानी की एक छोटी सी बूंद मे ३६५० सूक्ष्म जन्तु होते हैं।[1]

(२) जैनधर्म की पूजा आदर्श पूजा है। जैन उन महान पुरुषों की पूजा करते हैं, जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जीवन मुक्त परमात्मदशा को प्राप्त हो चुके है। इसी प्रकार की पूजा प्राचीन मनुष्यों में ही प्रचलित थी, यह बात तत्ववेत्ता कारलायल ने स्वीकार की है। मेजर-जेनरल फरलांग सा० ने लिखा है कि जैन धर्म से सरल पूजा में, व्यवहार में और सिद्धान्त में और कौन सा धर्म हो सकता है?[2]

(३) यही हाल अणुवाद (Atomic Theory) का है। किसी भी धर्म के ग्रन्थों में—उपनिषदादि में अणु-सिद्धांत का उल्लेख नहीं हैं। सांख्य और योग दर्शनों में भी इसके दर्शन नहीं होते। वेदांत सूत्र में तो इस सिद्धान्त का खंडन किया गया है। अलवत्ता वैशेषिक और न्याय दर्शन में यह सिद्धान्त को स्वीकार किया गया हैं, परन्तु ये दोनों दर्शन अर्वाचीन और पौरुषेय हैं। केवल जैनों और आजीविकों के निकट यह अणु सिद्धान्त प्रारम्भ से मान्य रहा है। विद्वज्जन जैनों को ही इसका आदि प्रवर्तक मानते हैं। क्योंकि जैनों ने इस सिद्धान्त को पुद्गल सम्बन्धी अतीव प्राचीन (most primitive) मत के अनुरूप निर्दिष्ट किया है।[3]

(४) जैन सिद्धान्त में धर्म (Medium of motion) और अधर्म (Medium of rest) नामक दो द्रव्ये मानी गई हैं जो उनकी निराली मान्यता है।

ये ऐसे सिद्धान्त हैं जो जैन धर्म को अन्य धर्मों से विलक्षण और प्राचीन सिद्ध करते हैं। इनका साम्य आदि निवासी मानव की मान्यताओं के सदृश होने के कारण प्राचीनतम रूप को प्रगट करते है। इसलिए जैनधर्म एक अति प्राचीन धर्म होना चाहिए।

मानव की प्रारम्भिक स्थिति का वैज्ञानिक वर्णन जैन शास्त्रों में है

जैन मान्यता है कि इस कल्पकाल की आदि में भरत क्षेत्र में भोगभूमि थी। इस समय लोगों को श्रम नहीं करना पड़ता था—लोग एक विशेष प्रकार वृक्षों के सहारे रहते थे, जो 'कल्पवृक्ष' कहलाते थे। कल्पवृक्ष ये पृथ्वी काय के होते थे—इन्हीं पाषाण वृक्षों के आधार से उस समय के मानव रहते थे। मानव की 'वृक्ष-संस्कृति' थी, इसीलिए उन पाषाण कृतियों

---

१ 'सिद्धपदार्थ विज्ञान' (यू० पी० गवर्नमेन्ट प्रेस) पृ० ६५

२ Short Studies in the Science of Comparative Religion, pp. 243-244.

३ जैकोबी, इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड ईथिक्स, भा०२ पृ० १९९-२००

को भी 'वृक्ष' कहा, पर 'कल्प' शब्द के साथ। आज के ऐतिहासज्ञ भी मानव की आदि स्थिति पाषाण युग को ऐसी ही बताते हैं।[1] इस प्रकार जैन ग्रन्थों में मानव की प्रारम्भिक स्थिति का प्रामाणिक वर्णन मिलना, उसकी प्राचीनता का ही द्योतक है।

कृषि विज्ञान के अविष्कर्ता ऋषभ अथवा वृषभ

समयानुसार भोगभूमि का अन्त और कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। चौदह कुलकरों अथवा मनुओं ने मानव को प्रकृति का रहस्य और उससे लाभ उठाने के प्रयोग बताये, क्योंकि इस समय तक लोग कृषि करना और नाज को आग पर पकाकर खाना नहीं जानते थे। अन्तिम मनु नाभिराय अयोध्या में रहते थे। उनके पुत्र ऋषभ अथवा वृषभ हुये, जो महा मेधावी और ज्ञानी थे। ऋषभ ने नवीन आविष्कार किये। कृषि विज्ञान और शिल्प विद्या एवं अक्षर ज्ञान आदि बातों का उन्होंने आविष्कार किया। लोगों ने उनसे प्राकृतिक रूप में उगते हुए मीठे नरकुलों को रसभरे गन्ने में और जंगली चावल और गेहूं को अच्छे रूप में उगाने के विज्ञान को सीख लिया उन्होंने श्रम का पाठ पढ़ा और पसीने की कमाई करना सीखा।

किन्तु ऋषभदेव को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि वह जानते थे कि मानव जीवन का उद्देश्य मात्र ऐहिक उन्नति कर लेना नहीं है—ऐहिक उन्नति का मूलस्रोत भी मानव का अन्तर है, जहां पूर्ण ज्ञान, दर्शन और सुख का सोता हिलोर रहा है। इसलिए ही ऋषभदेव ने घर बार और राजपाठ का मोह त्याग कर बनवास स्वीकार किया। लोगों को उन्होंने घर गृहस्थी बनाकर रहना सिखाया और फिर उससे अलग होना भी बताया। शाश्वत सत्य और विराट अनन्त रूप को मानव घर के छोटे से दायरे में नहीं पा सकता। जब वह दिशाओं को अपना अम्बर और विश्व को अपना घर मानकर विचरेगा तब वह अन्तर्द्रष्टा होकर महान बनकर चमकेगा। ऋषभ ने यही किया, छै छै मास के तप माढ़कर वह बैठ गये। कैलाश के रम्य शिखिर पर चढ़कर उन्होंने सत्य को पाया और उसे दुनियां को बताया इसीलिए ऋषभ पहले तीर्थंकर हुये और उन्होंने जिस धर्म को बताया वह आज जैन धर्म कहलाता है।

---

1 "Our ancient ancestor was not very different from the animals, until he began to cook food .... It is only when man began to re-arrange the elements of nature, that he began to spread his influence and became the most important animal on the earth."

—Mulk Raj Anand

—'The Story of *Man*' – 1952 pp.14-15.

जैनधर्म के आदि प्रणेता ऋषभदेव थे

जैनधर्म की उक्त मान्यता का समर्थन जैनेतर साहित्य और पुरातत्व से होता है। पहले ही वैदिक साहित्य को देखिए तो ऋग्वेदादि में ऋषभ नामक महापुरुष का उल्लेख मिलता है।[1] विद्वज्जन उनको जैन तीर्थंकर ही मानते है।[2] 'महाभारत' (शांति पर्व) में भी ऋषभ का उल्लेख है।[3] श्रीमद्भागवत और 'विष्णु पुराण' में ऋषभदेव को आर्हत (जैन) मत का प्रवर्तक लिखा है।[4]

बौद्धों ने भी ऋषभ और वर्द्धमान महावीर को जैनों का आदि और अंतिम तीर्थंकर घोषित किया है। भारत के आदि कालीन शासकों में उन्होंने ऋषभ और भरत को गिना है।[5]

भारतीय पुरातत्व में मोहन जोदड़ो के प्राचीनतम स्तर से जो मुद्रायें मिलीं हैं उन पर ऋषभ मूर्ति के अनुरूप आकृतियाँ अंकित हैं जिन्हें विद्वज्जन ऋषभ मूर्ति का पूर्व रूप ही मानते है।[6] पटना म्यूजियम में मौर्यकालीन जिनप्रतिमा सुरक्षित हैं।[7] और खंडगिरि और उदयगिरि की प्रसिद्ध हाथी गुफा में अंकित जैन सम्राट ऐल खारबेल के प्राचीन शिलालेख (ई० पूर्व २ य श०) से प्रमाणित है कि नन्द-काल में ऋषभ जिनकी मूर्तियों का प्रचलन था।[8] यदि भ० ऋषभदेव नामक कोई महापुरुष हुआ ही न होता तो प्राचीनकाल के मानव उनकी मूर्ति कैसे बनाते ?

इस प्रकार यह सिद्ध है कि इस अल्पकाल मे जैनधर्म के आदि संस्थापक ऋषभदेव थे। आधुनिक इतिहासवेत्ता जो भ०महावीर को जैनधर्म का संस्थापक बताते हैं, यह गलत हैं।

वैदिक आर्यों के पहले जैन

वास्तव मे ज़ब वैदिक आर्य भारत में आये अथवा सप्तसिन्धु प्रदेश से आगे को बढ़े तो उनका साक्षात भारत के उन आदिवासी लोगों से हुआ जो इक्ष्वाकु. द्राविड़, असुर आदि कहलाते थे। यह इक्ष्वाकु आदि लोग नगरों में

---

१ ऋग्वेद, अ० मंत्र ८ सूत्र २४

२ डा० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी

३ 'ऋषभादि नाम महायोगी नामाचारे।
दृष्टात अर्हतारयो मोहिता॥'

४ विष्णु पुराण २।१ पृ०७७

५ मंजुश्रीमूजकल्प (आगे देखो)

६ माडर्न रिव्यू, अगस्त १९३२,पृ०१५८-६०

७ जैन ऐंटीक्वेरी, भा० १३ पृ० ९६

8 Notes on the Remains on Dhauli & in the caves of Udayagiri and Khandagiri, p. 2.

रहते थे। जैन ग्रन्थों में ऋषभदेव की सन्तति को इक्ष्वाकु नाम से प्रसिद्ध हुआ लिखा है, क्योंकि ऋषभ ने कृषि विज्ञान में पहला आविष्कार इक्षुरस को प्राप्त करने का किया था। उनका शाश्वत नगर अयोध्या था—ऋषभ ने नागरिक जीवन की शिक्षा लोगों को दी थी। लोगों को ब्राह्मी लिपि और प्राकृतिक भाषा का बोध कराया था। उन्हें अपने मान्य पूर्वजों की भक्ति करने का पाठ पढ़ाया था। शाकाहार और पुष्प पूजा करना भी लोगोंको सिखाया था। उन्होंने लोगों को श्रम करके अपने भावी जीवन को सुखमई बनानेका उपदेश भी दिया था। इसीलिए वह 'श्रमण' कहलाते थे कि अदृश्यशक्ति के भरोसे रहना और उसे प्रसन्न करने के लिए बलि देने का विधान उनके धर्म-सिद्धान्त में नहीं था। कितु वैदिक आर्यों में सब बातें इसके विपरीत थीं। वे नगरों में न रहकर इधर उधर घूमा फिरा करते थे। उनकी भाषा प्राचीन संस्कृत से मिलती जुलती थी। वे प्रकृति की शक्तियों को देव अलंकार में गुम्फित करके पूजते थे। सारांश यह कि ऋषभ के अहिंसा धर्मानुयायी इक्ष्वाकु, द्राविड, असुर आदि लोगों की मान्यताओं और जीवनचर्या से इन वैदिक आर्यों की मान्यता और चर्या भिन्न प्रकार की थी।[१] जब वे ऋषभ मतानुयायी इक्ष्वाकु आदि वैदिक आर्यों के सम्पर्क में आये तो उन्होंने बहुत सी बातें इन प्राचीन जैनों से ली थीं। जैन अहिंसा का प्रभाव उन पर सर्वोपरि था।

द्राविड़ और असुर जैन थे

इक्ष्वाकों के अनुरूप ही द्राविड़, असुर, नाग आदि वंशों के लोग भी जैन धर्मानुयायी थे। द्राविड़ साहित्य की आदि रचनाये जैनों की ही कृतियाँ हैं। ऋषभदेव ने उनमें प्रचार किया था। 'श्रीमद्भागवत' में भी लिखा है कि उन्होंने दक्षिण के कोंकण, द्रविण आदि देशों में ब्राह्म (आत्म) धर्म का प्रचार किया था। वे स्वयं कैवल्यपति ठहरते थे, योगचर्या उनका आचरण और आनन्द उनका स्वरूप था। द्राविड़ राजा उनके अनन्य भक्त थे—वे सभी दिगम्बर जैन मुनि हुये थे और तप तप कर उन्होंने शत्रुंजय पर्वत से सिद्धपद को पाया था, यह बात 'निव्वाण कांड गाथा' नामक प्राचीन ग्रन्थ से स्पष्ट है।[२] आज भी जैनी इन द्राविड़ सिद्ध परमेष्ठियों की पूजा करते हैं। द्राविड़ लोग निस्संदेह जैनी ही थे।

भारत के प्राचीन आदि निवासी लोगों में असुरों का भी अपना स्थान था

---

१ श्री सुनीतकुमार चटर्जी का अध्यक्षीय भाषण अहमदाबाद प्राच्यविद्या परिषद देखिए एवं प्रो० ए० चक्रवर्ती का लेख अंग्रेजी 'जैनगजट' में देखिए।

२ 'पंडुसुआ तिण्णिजणा दविडणरिंदाण अट्ठकोडीओ।
संत्तुंजय गिरिसिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं॥

—निव्वाणकांड गाथा ६

जिनेन्द्र भगवान की पूजा न केवल नरेन्द्र करते थे, बल्कि नागेन्द्र और असुरेन्द्र भी करते थे, ऐसे उल्लेख मिलते थे। वैष्णवों के मान्य 'विष्णु पुराण' में असुरों का एक प्रसंग आया है, जिससे स्पष्ट है कि असुर लोग जैन धर्मानुयायी थे। यह असुर मुख्यतः नर्मदा नदी की उपत्ययका में रहते थे। देवता लोगों से इनकी बनती न थी। ये पशुबलि पूरक यंत्रों को ध्वंश करते थे। यह असुर इतने बलवान थे कि देवताओं की भी इनके सामने कुछ चलती न थी। अन्तः देवता विष्णु की शरण में पहुँचे और उन्होंने इन असुरों में जैनधर्म प्रचार किया। 'विष्णु पुराण' में लिखा है कि —

'इत्युक्तो भगवास्तेभ्यो मायामोहं शरीरतः।
समुतपद्यो ददौ विष्णुः प्राह चेदं सुरोत्तमान् ॥४१॥
मायामोहोयमखिलान दैत्यांस्तान् मोहशिष्यति।
ततो बध्या भविष्यन्ति वेदमार्ग बहिष्कृताः ॥४२॥
स्थितो स्थितस्य मे वध्या पावन्तः हरिपंथिनः।
ब्रह्मणो येऽधिकारस्था देवदैत्यादिकाः सुराः ॥४३॥
तद्गच्छत् नभीकार्या महामोहोऽयमग्रतः।
गच्छत्वद्योपकाराय भवतां भविता सुराः ॥४४॥

—विष्णुपुराण अ० १८

विष्णु ने एक माया मोह नामक व्यक्ति उन देवों को दिया और कहा कि यह अपनी माया (जादू) से असुरों को धर्मभ्रष्ट कर देगा, तब तुम विजयी होगे। तदनुसार मायामोह असुरों के पास पहुँचा और उन्हें बहुत तरह से समझाकर वेदमार्ग विमुख बना दिया। यह माया मोह एक दिगम्बर जैन मुनि के भेष में असुरों के पास पहुंचा था और उन्हें आर्हत (जैन) धर्म का भक्त बनाया था। यही उल्लेख वैष्णवों के 'पद्म पुराण' (प्रथम सृष्टि खंड १३ पृ० ३३) मे भी है, जिससे माया मोह को दिगम्बर, मुंडेसिर और मोरपिच्छिधारी योगी लिखा है। (योगी दिगम्बरो मुंडो बर्हिपत्रधरोह्यय)। उसने असुरों को जैन धर्म का उपदेश देकर उन्हें दिगम्बर जैनधर्म में दीक्षित किया।[1] 'देवी भागवत' (स्कध ४ अ० १३) मे भी ऐसा ही वर्णन है। उसमें असुरों को देवरिपु कहा है।[2] 'मत्स्य पुराण' (अ० २४) में भी यह प्रसंग

---

१ 'बृहस्पतिसाहाय्यार्थ विष्णुना मायामोहसमुत्पादनम् दिगम्बरेण मायामोहेन दैत्यान् प्रतिजैनधर्मोपदेशः दानवानां मायामोहमोहितानां गुरुणा दिगम्बर जैनधर्म दीक्षा दानम्।' —पद्मपुराण (वेंकटेश्वर प्रेस) पृ० २

२ 'छद्मरूपधरं सौम्यं बोधयंतं छलेन तान्।
जैनधर्म कृतस्वेन यज्ञनिंदा परं तथा ॥५४॥
भो देवरिपवः सत्यं ब्रवीमि भवतां हितम्।
अहिंसा परमो धर्मोऽहंतव्याह्याततायिनः ॥५५॥'

आया हैं। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि असुर लोग वैदिक धर्मानुयायी देवों के शत्रु थे और वेदमार्ग बहिष्कृत माने जाते थे। वे दिगम्बर जैनधर्म के अनन्य भक्त थे।

वैदिक साहित्य में इन असुर लोगों की निम्नलिखित विशेषतायें वर्णित हैं।

(१) असुर लोग 'प्रजापति' की सन्तान थे ।

(२) उनकी भाषा संस्कृत नही थी। पाणिनि ने उन्हें व्याकरण के ज्ञान से हीन बताया है। ऋग्वेद (७।१८।१३) में उन्हें 'विरोधी-भाषा-भाषी' (of hostile speech) और वैदिक आर्यों का शत्रु (१।१७४-२) कहा है।

(३) असुरों के ध्वजचिह्न सर्प और गरुड़ थे।

(४) वे क्षात्र धर्म प्रधान थे।

(५) वे ज्योतिष विद्या में निष्णात थे। (ऋग्वेद १।२८-८)

(६) माया का जादू (magic) असुरों की एक विशेषता थी ।

(ऋग्वेद १।१६०-२३)

असुर लोगों की उक्त विशेषतायें आज भी जैनों के प्रसंग में ठीक बैठतीं और अनूठी हैं। जैन ग्रन्थ श्री ऋषभदेव को आदि ब्रह्मा और प्रजापति भी कहते हैं।[1] सभी जैन ऋषभदेव जी को अपना आदि पूर्वज मानते हैं। वे आर्य मनुष्यों के अग्रणी थे। जैनों की भाषा संस्कृत के स्थान पर प्राकृत रही हैं, जो वेद भाषा से भिन्न है। असुरों की भाषा भी ऐसी ही थी। असुर चिह्न सर्प जैनों में विशेष रूढ़ है। एक से अधिक जैन तीर्थंकरों और शासन देवताओं से सर्प का सम्बन्ध है। सब ही जैन तीर्थंकर क्षत्रिय थे। और उनकी शिक्षा प्रत्येक मनुष्य को क्षात्रधर्म का पाठ पढ़ाती है। 'जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा'—यह जैनों की उक्ति हैं। ब्राह्मण और बौद्ध लेखकों ने जैनों को ज्योतिष विद्या मे निष्णात लिखा है।[2] और प्राचीन भारत में एक समय जैन मतानुसार कालगणना प्रचलित थी।[3] जैनेतर लोग तीर्थंकरों की बाह्यविभूति और अतिशय देखकर इन्द्रजाल जैसे जादू का अनुभव करते थे। इस प्रकार असुरों की सभी विशेषतायें जैनों में मिलतीं हैं, जो वैदिक मत से बिल्कुल निराले थे। अतएव उनको जैन धर्मानुयायी मानना सुसङ्गत हैं। असुरों के आवास नर्मदा उपत्यका में अति प्राचीन सभ्यता के प्रचलन के चिह्न मिले हैं। वहाँ के पुरातत्व में जैन मूर्तियाँ भी मिलीं हैं। कसरावद के पुरातत्व से ईस्वी पूर्व का शताब्दियों में वहाँ जैनधर्म का अस्तित्व प्रमाणित है। वहाँ कई प्राचीन जैनतीर्थ भी है।

---

१ जिन सहस्रनाम व महापुराण देखो।

२ पंचतंत्र (५।१), प्रबोधचन्द्रोदय नाटक, न्यायविन्दु अ० ३ आदि

३ अलबेरूनी का भारतवर्ष देखो

इस प्रकार वैदिक-आर्यों को भारत में जिन इक्ष्वाकु, द्राविड़, असुर आदि लोगो से सामना करना पड़ा वे जैनधर्मानुयायी आर्य थे। उस समय भारत का धर्म जैन था, जिसका प्रभाव वैदिक आर्यों पर भी पड़ा। मेजर जनरल जे० जी० आर० फरलांग सा० ने स्पष्ट लिखा है कि 'ईसाई पहले २५०० वर्षों तक बल्कि अज्ञात समय से भारत में द्राविड़ों का राज शासन था। उस समय उत्तर भारत में एक प्राचीन और अतीव सुसंगठित धर्म अर्थात जैनधर्म प्रचलित था, जिसके सिद्धान्त, सदाचार और तपश्चरण उच्चकोटि का था—इस में से ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के पुराने तपस्वियों के आचार स्पष्टतया उद्धृत किए गए है।'[1]

स्व० लोकमान्य बालगंगाधर जी तिलक ने भी स्पष्ट कहा था कि "भ० महावीर स्वामी जैनधर्म को पुनः प्रकाश में लाए। वे २४ वें अवतार थे। उनके पहले ऋषभ, नेमि, पार्श्व आदि नाम के २३ अवतार और हुए हैं, जो कि जैनधर्म को प्रकाश मे लाए। इससे जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। इनके 'अहिंसा परमो धर्मः' के उदार सिद्धान्त ने ब्राह्मण धर्म पर चिर-स्मरणीय छाप डाली है।"

इसीलिए रेवरेड एब्बे जे०ए०डुबोइ (Rev. Abbey J. A. Duboi) ने बहुत पहले ही घोषित किया था कि निस्सन्देह जैनधर्म ही पृथ्वी पर एक सच्चा धर्म है और यही मनुष्य का आदि धर्म है! और आज भी डा० जिम्मर[2] डा० सेन प्रभृति विद्वज्जन[3] जैनधर्म को प्राङ्-आर्यकाल का धर्म निर्दिष्ट करते हैं।

---

1 Short Studies in the Seience of Comparative Religions, pp.243-244.

2 "Jainism does not derives from Brahman Aryan sources, but reflects the cosmology and anthropology of a much older, pre-Aryan upper class of northeastern India.

—The Philosophies of India, p. 217

3 "Jainism has, however, a history much older than Mahavira, at least two and half centuries older. Its being may perhaps be traced, ... to pre-Aryan Indian thoughts.

—Dr. A. C. Sen (Indo-Asian Culture. I. 1, 738)

"...... the deep strain of pessimism that characterises Upanisadic thought in common with Buddhism

अवशेष जैन तीर्थङ्कर

ऋषभदेव के पश्चात समयानुसार अवशेष २३ तीर्थङ्करों ने जैनधर्म का उद्योत किया था। हजारों वर्षों पहले के मनुष्यों ने उनकी मूर्तियां बनाईं थीं। मोइनजोदड़ो के आज से पांच हजार वर्ष पुराने पुरातत्व में भी ऐसी मूर्तियां मिली हैं, जो बिल्कुल जिन मूर्तियों के सदृश हैं।[1] हरप्पा[2] से मिली नग्न मानवधड़ की मूर्ति ठीक वैसी ही है जैसी कि मौर्यकाल की मानवधड़ की मूर्ति बाँकीपुर (पटना) से मिली है और जिसे डा० जायसवाल जैन तीर्थंकर की दिगम्बर मूर्ति का खण्डित भाग बताते हैं।[3] मोइनजोदड़ो की मुद्राओं पर जैन परम्परा के कथानक और चिन्ह भी अंकित किये हुए मिले हैं।[4] डा० प्राणनाथ ने एक मुद्रा पर 'जिनेश्वर' शब्द पढ़ा है। प्रभासपाटन (काठियावाड़) से प्राप्त ताम्रलेख को निम्न प्रकार पढ़ा है—

"रेवानगर के राज्य के स्वामी, सु .... जाति के देव, नेबुशदनेजर आए हैं। वह यदुराज के स्थान (द्वारिका) आए हैं। उन्होंने मन्दिर बनवाया है। सूर्य .....देव नेमि के जो स्वर्ग समान रेवत पर्वत के देव हैं (उन्हें) सदा के लिए अर्पण किया।"

—गुजराती "जैन" भा० ३५ पृ० २

बाबुल (Babylonia) के सम्राट नेबुशदनेजर प्रथम का उल्लेख उक्त ताम्रपट में हुआ प्रतीत होता है। इससे भी जैनधर्म और तीर्थंकर नेमि की प्राचीनता स्पष्ट है, क्योंकि उक्त सम्राट ईसा से दो हजार वर्षों पहले हुए थे।

Jainism and the Samkhya, can hardly be said to be a direct product of Vedic Brahmanism ....It would perhaps be historically more correct, therefore, to regard Upanisadic an much Jaina and Buddhist thoughts as having their roots more in non-Vedic than in Vedic ideas."

—Dr. B. B. Bhattacharya (Ibid)

१ मोडर्नरिव्यू (अगस्त १९३२) पृ० १५८-१६० और मारकल सा० के मोइनजोदड़ो की प्लेट नं० १५ व १६

२ मरसल सा० की मोइनजोदड़ो पुस्तक में चित्र नं० १० देखो

३ जनरल आफ दी बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, मार्च १९३७, पृ० १३

४ जैनऐन्टीक्वेरी में हमारा लेख एवं राय कृत 'जैन तीर्थङ्करों की ऐतिहासिकता' देखो।

५ इण्डियन हिस्टा० क्वाटरली भाग ८ परिशिष्ट पृ० १८-३२

इसके अतिरिक्त मथुरा कंकाली टीला के बोद्धस्तूप वाले लेख से स्पष्ट है कि वह स्तूप ई० पू० ८ वीं शती में भगवान पार्श्वनाथ जी के समय में बना था।[1] धाराशिव (तेरपुर) की गुफाओं की मूर्तियाँ भी विद्याधर वंश के राजाओं ने भ० पार्श्व के समय में बनवाई थीं।[2] सम्राट अशोक ने भी 'निर्ग्रन्थ' मुनियों का उल्लेख अपने सप्तम स्तम्भलेख में किया है।[3] कंकाली टीला (मथुरा),[4] रामनगर (अहिच्छत्र-बरेली)[5] आदि स्थानों से भी ईस्वी सन के प्रारम्भ होने से शताब्दियों पहले की निर्मित तीर्थंकर प्रतिमायें मिली हैं। इन सबसे तीर्थंकर ऋषभके पश्चात हुए २३ अन्य तीर्थंकरों का ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित होता है।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि !

बीसवे तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ जी के समय में मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी हुए थे और नारायण श्रीकृष्ण के समकालीन २२ वें तीर्थंकर भ० अरिष्टनेमि थे। विद्वज्जन श्रीकृष्ण और तीर्थंकर अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक महापुरुष मानते है।[6] 'यजुर्वेद' आदि वैदिक ग्रन्थों मे भी अरिष्टनेमि का उल्लेख हुआ है और पुराणों से स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण के समकालीन एक अरिष्टनेमि नामक ऋषि थे।[7] 'महाभारत' में भी उनका उल्लेख है। वहां

---

१ स्मिथ, जैनस्तूप एण्ड अदर एन्टीक्वेटीज आफ मथुरा पृ० २४-२५

२ करकन्डुचरिउ (कारञ्जा सीरीज) की भूमि ., ४.-४८

३ अशोक के धर्म लेख (काशी), पृ० ३७७

४ जैनस्तूप, पृ० २४—२५

५ लूडर्स जर्नल आव दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, जनवरी १९१२

६ "Neminatha is connected with the legend of Shri Krishna as his relative ... . The *Harivamsapurana* (p. 488) establishes the historicity of Neminatha. *He was never a mythical person.* He is referred to as a Jina in the *Prabhasapurana* who obtained salvation on the Mt Raivataka".

—Dr. B. C. Law (VOA. Sp. No. Vol. V, p. 48)

७ ऋग्वेद (८, ८, २४), यजुर्वेद (२५ । १९), अथर्ववेद (२० । १४३ । १०) ऐतिरेय ब्राह्मण (२० । २)—डा० राधाकृष्णन आदि का मत है कि वेदों में तीर्थङ्करों का उल्लेख है। (इण्डियन फिलासफी) भाग १ पृ० २८७

"स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो वृहस्पतिर्दधातु ॥'—ऋग्वेद १।१।१६

"वाजस्यनु प्रस्वभाव भुवेमा च भुवनानी सर्वतः।

सनेमीराजा परियाती विद्वान प्रजा पुष्टि वर्धयमानो ॥"—यजुर्वेद २५।१९

वह निम्न प्रकार सगर नामक एक राजा को उपदेश देते हैं—

संसार में मोक्ष का ही सुख वास्तविक सुख है। जिसकी बुद्धि विषयों में आसक्त है, उसका मन अशांत होता है। स्नेह बन्धन में बंधे हुए अज्ञानी को मोक्ष नहीं हो सकता। तुम न्याय पूर्वक इन्द्रियों से विषयों का अनुभव करके उनसे अलग हो जाओ और आनन्द के साथ विचरते रहो। इस बात की परवा न करो कि सन्तान हुई है या नहीं ?·········प्राणी स्वयं जन्म लेता है, स्वयं बढ़ता और स्वयं ही सुख दुख तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। मनुष्य पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार भोजन, वस्त्र तथा अपने माता-पिता के द्वारा संग्रह किया हुआ धन प्राप्त करते हैं।'[1]

इस उपदेश में निम्नलिखित बातें और दृष्टव्य हैं—

(१) मुक्ति के लिए सन्तान आवश्यक नहीं। भ० नेमि के समय पुत्र का होना सदगति के लिए आवश्यक माना जाता था, इसलिए उन्होंने उसका निषेध किया था।[2] अम्बादेवी कथानक से यह स्पष्ट है।[3]

(२) वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की धारणा जैसे इस उपदेश में की गई है, ठीक वैसा ही उपदेश तीर्थङ्कर नेमि ने दिया था।

(३) अन्त: कर्मवाद का निरूपण जैनधर्म की विशेषता है।

इसके आगे 'महाभारत' में जो उपदेश अरिष्टनेमि ने दिया उससे भी स्पष्ट होता है कि लेखक जैन मान्यता को अपना कर उपदेश दे रहा है, क्योंकि इसमें क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष आदि को जीतने वाले को मुक्त पुरुष कहा है और उसको साधना के लिए सप्तव्यसनादि के त्याग का उपदेश दिया है। इन बातों से भासता है कि 'महाभारत' में तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि का ही उल्लेख किया गया है। अत: श्रीकृष्ण जी के साथ तीर्थंकर अरिष्टनेमि को विद्वज्जन ऐतिहासिक पुरुष ठीक ही मानते हैं।[4] उनकी एक मूर्ति कुशान सं० १८ की कंकालीटोला मथुरा में मिली है।[5]

---

१ महाभारत (गीता प्रेस) पृ० १३८४—१३८५

२ भगवान पार्श्वनाथ (सूरत) पृ० ८२-८५

३ 'अहिंसा-वाणी' का 'भ० अरिष्टनेमि' विशेषांक पृ० ६४-६८

४ डा० फुहरर ने तीर्थङ्कर नेमि को ऐतिहासिक माना है। Ep. Indica. I ३८९ श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने 'हरिवंश पुराण' की भूमिका (पृ० ६) में नेमि को ऐतिहासिक महापुरुष मानना ठीक बताया है।

५ एपीग्रेफिया इण्डिका, भा० २।१४ सं० १४

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ !

तेईसवें तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथ जी की ऐतिहासिकता में शंका करने के लिए कोई स्थान शेष नहीं है। बौद्ध[1] और जैन[2] ग्रन्थों में इनके शिष्यों के उल्लेख मिलते हैं। उनके स्तूप[3] मन्दिर और मूर्तियाँ[4] स्वयं उनके काल से अबतक की बराबर मिलती हैं जिनसे उनका अस्तित्व प्रमाणित होता है। उदयगिरि खण्डगिरि [ओड़ीसा] की रानी गुफा में ईस्वी शताब्दि से लगभग दो सौ वर्षों पहले का उत्कीर्ण ऐसा शिल्पकार्य है जिसमें, कहते हैं कि भगवान पार्श्व के जीवन की घटनायें अंकित हैं।[5] इन्हीं बातों को लक्ष्यकर डा० जिम्भर ने लिखा था कि भ० पार्श्व अवश्य ही हुए थे, जिन्होंने लोगों को शिक्षा दी थी। उनकी ऐतिहासिकता स्वयं सिद्ध है।[6] अन्य विद्वान भी ऐसा ही मानते हैं।[7]

---

१ सच्चकपुत्र का पिता (मज्झिमo १।२२५) कन्डरमसुक [दीघनिकाय]

२ उत्तराध्ययनसूत्र में गौतम-केसी संवाद आदि।

३ कंकालीटीला मथुरा का बौद्ध-स्तूप उनके समय में ही बना था।

४ धाराशिव और खण्डगिरि के गुफामन्दिर और मूर्तियों के लिए 'करकन्डु चरिउ' की भूमिका तथा 'आर्कगौजीकल सर्वे आफ इन्डिया' (Vol. LI, pp. 250, 259-260 & 270) देखिए।

5 Arch: Survey of India. 41 (1931), pp. 245-248.

6 "At least with respect to Parshva, the Tirthankara just preceding Mahrvira, we have grounds for believing that he actually lived and thought .... Parshva .... is the first of the long series whom we can fairly visualize in a historical setting."

—Philosophies of India.

7 ....there would, atleast, be no serious inconsistency if Parsvanatha be supposed to be a real historical person, a preacher of Jaina faith before Mahavira."

—Dr. H. Bhatracharya, Ph. D.(VOA. Parshva Sp.No. p. 15)

"Parshva was undoubtedly a historical person."

—B. C. Law [Ibid p. 24]

"Parsva existed as a real person."

—Dr. Jarl Charpentier [Uttaradhyayana Sutra, Intro. p. 21]

अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर वर्द्धमान के विषय में तो सर्वसम्मत मत है कि वे म० बुद्ध के समकालीन ऐतिहासिक महापुरुष थे। चौबीस तीर्थंकरों में वे सर्व अन्तिम थे, इसलिए भ० महावीर जैन धर्म के संस्थापक नहीं हो सकते। उन्होंने प्राचीन जैनधर्म का पुनरोद्धार मात्र किया था। म० बुद्ध ने संभवत: उनको देखा था और उनके विषय में कहा था—

'एवं वुत्ते, महानाम, ते निगंठा मं एतदवोचुं, निगण्ठो, अबुसो नाटपुत्तो सव्वञ्ञु सव्व सस्सावी अपरिसेसं णाण दस्सनं परिजानाति: इत्यादि ।[1]

"हे महानाम ! जब मैंने उनसे ऐसा कहा, तब वे निर्ग्रन्थ [नग्न जैन साधु] इस प्रकार बोले कि अहो, निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र (भ० महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, वे अशेष ज्ञान और दर्शन के ज्ञाता हैं।" इस उल्लेख से न केवल भगवान महावीर का अस्तित्व ही प्रमाणित होता है, बल्कि उनका सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होना भी सिद्ध है। एक अन्य प्रसंग में राजकुमार अभय आनन्द से, जो म० बुद्ध के अनन्य शिष्य थे, कहते हैं कि "निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र (महवीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। वह ज्ञान के प्रकाश को जानते हैं अर्थात् केवल ज्ञानी है। उन्होंने जाना कि ध्यान द्वारा पूर्व कर्मों को नष्ट किया जाता है। कर्मों के नष्ट होने से दु:ख का होना बन्द हो जाता है। दुख के बन्द हो जाने से विषय वासना मिट जाती है और विषय वासना के क्षय होने से संसार में दु:ख का अन्त हो जाता है।[2] बौद्ध ग्रंथ 'दीर्घनिकाय' में भगवान महावीर को संघ नेता, गणाचार्य विशेष प्रख्यात तीर्थंकर और मानवों द्वारा पूज्य लिखा है।[3] इन उल्लेखों से भगवान महावीर, जो अपने कुल 'ज्ञातृवंश' के कारण 'ज्ञातृपुत्र' नाम से प्रसिद्ध थे, म० बुद्ध के समकालीन सर्वज्ञ और सर्वदर्शी महापुरुष सिद्ध होते हैं।

जैनधर्म के प्राङ्ऐतिहासिक कालीन होने की साक्षी

इस प्रकार जैनधर्म को प्राचीन साहित्य और पुरातत्व की साक्षी से एक अतीव दीर्घ प्राङ् ऐतिहासिक काल में गुम्फित मिलती है। इस कल्प काल के आदि तीर्थंकर भ० ऋषभ अथवा वृषभदेव का समय पाषाण काल (Stone) से सटा हुआ कृषिकाल (Agricutlure Age) विद्वानों ने माना है।[4] अत: जैनधर्म भारत का प्राङ् वैदिक काल का धर्म है, यह

---

१ मज्झिमनिकाय (P.T.S.) भाग १ पृ० ९२-९३

२ अंगुत्तरनिकाय (P.T.S) भाग १ पृ० २२०—२२१

३ दीर्घनिकाय [P.T.S.] भाग ३ पृ० १—३५

४ डा० संकलिया, 'वायस आव अहिंसा' —ऋषभदेव विशेषांक, पृ० ११

मानने में कोई अतिशयोक्ति नहीं रहती। अधुना विद्वज्जन ऐसा ही मानने लगे हैं।

पूर्वोक्त साक्षी के अतिरिक्त निम्न पंक्तियों में जैनेतर साहित्य के ऐसे उल्लेख भी उपस्थित किये हैं, जिससे जैनधर्म का अस्तित्व प्राङ्ऐतिहासिक काल में सिद्ध होता है।

शाकटायन के अनादिसूत्र में 'इण् सिज् जिदी—ङ्ष्यक्यिोनक्' (सूत्र २८६ पाद ३) है। इसका अर्थ 'सिद्धान्तकौमुदी' के कर्त्ता ने 'जिनोऽर्हत्' किया है, जो जैनधर्म के संस्थापक का द्योतक है। शाकटायन का समय निरुक्त के कर्त्ता यास्क के पहले का है और तेस्क पाणिनि एवं पातञ्जलि के बहुत पहले हुए हैं। अतः वैदिककाल के पहले से जैनधर्म का प्रचलन स्पष्ट है। यदि जैनधर्म पहले से प्रचलित न होता तो शाकटायन उसका उल्लेख भला कैसे करते और कैसे स्वयं वेदों में जैन तीर्थङ्करों का नामो-उल्लेख किया जाता ?

'ऋग्वेदसंहिता' (अ० २ व० १७) में 'अर्हन' शब्दका उल्लेख है[1] और एसी (१०। १३६। २) में 'मुनयः वातवसनाः' का उल्लेख है, जिसे डा० वेबर दिगम्बर जैन मुनियों का द्योतक बताते हैं।[2]

'ऋषभं या सामानाना' सयत्ना नानां विषा सहिम्।

हन्तारं शत्रूणां कृधिः विराजं गोपितं गवाम् ॥

—ऋग्वेद. अ० ८ मन्त्र ८ सूत्र २४

यह ऋषभ कौन थे ? यह जानने के लिए वैदिक टीकाकर सायण पुराणादि का सहारा लेने का परामर्श देते हैं। अतः हिन्दू पुराणों में ऋषभदेव को नाभिराज और मरुदेवी का पुत्र ठीक वैसे ही लिखा है, जैसे कि जैनग्रन्थों में तीर्थंकर ऋषभ के लिए मिलता है।[3] इसी कारण आधुनिक ब्राह्मण विद्वान इन उल्लेखों को जैन तीर्थंकर का बोधक मानते हैं।[4]

---

१ मोक्षमूलर द्वारा सम्पादित (लन्दन १८४५) भा० पृ० ५७६

२ इंडियन एन्टीक्वेरी; भा० ३० (१६०१)

३ श्री मद्भागवतपुराण अ० ५ । ४,५६,

४ 'अहिंसा वाणी' का ऋषभदेव विशेषांक देखिये डा० स्टीवेन्सन का निम्न वक्तव्य महत्वपूर्ण है—

"The second point in the Jain traditions which imagine has a historical basis, is the account they give of the religious practice of Rishabha., the first of their Tirthankaras. He too, like Mahavira is said to have been a Digambara. In the Brahmanical Pura-

ऋषभ के अतिरिक्त वेदों में अजित[1], सुपार्श्व[2] और अरिष्टनेमि[3] तीर्थंकरों के नाम भी मिलते हैं। ऋग्वेद में ऐसे श्रमणों का उल्लेख है, जो यज्ञों में होने वाली हिंसा का विरोध करते थे।[4]

उपनिषदों में दिगम्बर मुनियों की चर्या बहुत कुछ दिगम्बर जैन साधुओं से मिलती जुलती है।[5] उधर रामायण (बालकांड सर्ग १४ श्लो० २२) में राजा दशरथ श्रमणो को आहार देते हुए लिखे गये हैं। (तापता भुञ्जते चापि श्रमण भुञ्जते तथा) 'श्रमण' शब्द का अर्थ भूषण टीका में दिगम्बर साधु किया गया है, यथा:—'श्रमण दिगम्बरा: श्रमण: वातवसना:।' निर्ग्रन्थ श्रमण अपने दिगम्बर भेष के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। जैन शास्त्र राजा दशरथ को जैनधर्म का भक्त लिखते है। 'योगवाशिष्ट' के वैराग्य प्रकरण में रामचन्द्र जी कहते है—

'नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु न च मे मनः।
शान्त आसितुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥'

—अ० १५ श्लो० ८

'महाभारत' में ऋषि व्यास जैनधर्म की आलोचना दूसरे अध्यायके दूसरे पद में ३३-३६ सूत्रों द्वारा करते हैं। उनपर टीका करते हुये नीलकण्ठ कहते है।

---

nic records, he is placed on the list of kings in one of the regal families, and said to have been father to that Bharat from whom India took its name. *He* is also said, in the end of his life, to have abandoned the world, going about, everywhere as a naked ascetic. It is so seldom that Jains and Brahmanas agree, that I do not see how we can refuse them credit in this instance, where they do so."

—Kalpasutra (Indro. p. XVI)

प्रो० विरुपाक्ष वाडियर ने वेदो मे तीर्थङ्करों के उल्लेख को 'जैनपथ प्रदर्शक' मे सिद्ध किया था। डा० श्री सर्वपल्लि राधाकृष्णन ने भी यही लिखा है कि वेदो मे ऋषभ, अजित और अरिष्टनेमि तीर्थङ्करों का उल्लेख है। भागवत पुराण में ऋषभ को जैनधर्म का सस्थापक लिखा है। (दी इण्डियन फिलॉसफी, पृ० २८७)

१ यजुर्वेद
२ 'ॐ सुपार्श्वमिन्द्रहवे'—यजुर्वेद
३ यजुर्वेद; अ० ६ मं० २५
४ ऋग्वेद ३।३; १४, २१ (सत्यार्थदर्पण पृ० ६१)
५ दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि; पृ० २१—२६

कि 'सर्वं संशयमितिस्याद्वादिनः सप्तभंगी नयज्ञाः' (श्लोक २ अ० ४६) सप्त भंगी जैनों का मुख्य न्यायसिद्धांत है। इसके अतिरिक्त 'महाभारत के आदि पर्व (अ० ३ श्लों० २६-२७) में जैनमुनि को नग्नक्षपणक लिखा है। 'अद्वैत ब्रह्मसिद्ध' नामक ग्रन्थ के कर्ता क्षपणक के अर्थ जैनमुनि करते हैं, यथा— 'क्षपणका जैन मार्ग सिद्धान्त प्रवर्तको इति केचित्।' (पृ० १६६ कलकत्ता संस्करण) 'महाभारत' के शांतिपर्व में भी (मोक्षधर्म अ० २६६ श्लो० ६) में सप्तभंगी नयका उल्लेख आया है।

'वेदान्तसूत्र' में जैन मुनियों को दिगम्बर लिखा है।

उपरान्त हिन्दू पुराणग्रन्थों में भी जैन धर्म विषयक उल्लेख मिलते हैं। विष्णु पुराण में (३। १७—१८) तीर्थङ्कर सुमति तथा आर्हत-जैन मत का उल्लेख हुआ है। 'भागवत' (अ० ५)—'पद्मपुराण' (पृ० २) 'वायुपुराण'— 'अग्निपुराण'—'प्रभासपुराण' आदि में भी जैनधर्म विषयक उल्लेख मिलते हैं।

अतएव हम देखते है कि वेदों से लेकर पुराणों तक बराबर जैनधर्म के उल्लेख मिलते हैं, जो इस बात को सिद्ध करते है कि वैदिक काल अपितु किञ्चित पहले से जैन धर्म भारत में प्रचलित था। उसे भ० महावीर ने नहीं चलाया, बल्कि ऋषभदेव ही उसके आदि संस्थापक थे।

बौद्ध ग्रन्थों की साक्षी

यही बात बौद्ध ग्रन्थों से भी सिद्ध होती है। बौद्ध ग्रन्थ 'मञ्जु श्री मूलकल्प' में भारतीय इतिहास का विवरण दिया गया है। उसमें भारत के प्रारम्भिक आदिकालीन राजाओं में दुग्धमार, कन्दर्प और प्रजापति के पश्चात नाभि, ऋषभ और भरत का होना लिखा है। ऋषभ को सिद्धकर्म और दृढ़व्रत बतलाया है। उनका यक्ष माणिचर था—वे हैमवत गिरि से सिद्ध हुए, यह भी लिखा है। निस्संदेह प्रथम तीर्थंकर का निर्वाण कैलाश से हुआ था, जो हिमालय का एक श्रृङ्ग है। इसी बौद्धग्रन्थ मे जैनो के

१ जयोष्णीषस्तथा सिद्धो धुन्धुमारे नृपोत्तमे ॥३८८॥
कन्दर्पस्य तथा राज्ञो विजोष्णीष कथ्यते।
प्रजापतिस्तस्य पुत्रो वै तस्यापि लोचना भुवि ॥३८९॥
प्रजापतेः सुतो नाभिः तस्यापि ऊर्ण मुच्यते।
नाभिनो ऋषभ पुत्रो वै सिद्धकर्म दृढ़व्रतः ॥३९०॥
तस्यापि मणिचरो यक्षः सिद्धो हैमवते गिरौ।
ऋषभस्य भरतः पुत्रः सोऽपि मन्त्रान् तदा जपेत् ॥३९१॥

—मञ्जुश्री मूलकल्पे,

'तीर्थंकर ऋषभः निर्ग्रन्थरूपिः।'

—मञ्जुश्री मूलकल्प (त्रिवन्द्रम्) पृ० ४५

आप्त रूप में ऋषभ का उल्लेख भी है। बौद्धग्रन्थ 'न्यायबिन्दु' (अ० ३) में ऋषभ (वृषभ) और वर्द्धमान सर्वज्ञ आप्त अर्थात केवल ज्ञानी तीर्थङ्कर लिखा है।[1] सरांश यह कि बौद्ध ऋषभदेव को ही जैनों का आदि तीर्थङ्कर मानते थे।

बौद्धों ने आश्रव, संवर, श्रावक आदि शब्द जैनधर्म से लिये थे।[2] यदि जैन धर्म पहले से प्रचलित न होता तो बौद्ध ये शब्द जैनों से कैसे ले सकते थे? बौद्ध म० बुद्ध के पहले से प्रचलित मतों के अनुयायियों को—मुख्यत: प्राचीन जैनों को 'तीर्थक' नाम से उल्लेखित करते हैं।[3] बौद्धों के निकट जैन सदा ही एक प्राचीन सम्प्रदाय के रूप में मान्य मिलते हैं। वैशाली में प्राचीन जैनों (निर्ग्रन्थों) के चैत्यों का उल्लेख भी वे करते हैं। बौद्ध ग्रन्थों में आजीविकमत के नेता मक्खलि गोशाल के विषय में उल्लेख है कि उसने मनुष्य जाति को छ: अभिजातियों मे विभक्त किया था और निर्ग्रन्थ (जैनों) को तीसरी अभिजाति का माना था। गोशाल भ० पार्श्व की परम्परा में भ० महावीर से पहले हुआ था। उसका जैनों को तीसरी श्रेणी पर गिनना उनकी प्राचीनता का द्योतक है।

म० बुद्ध का एक विवाद निर्ग्रन्थ पुत्र सच्चक से हुआ था।[4] अब यदि निर्ग्रन्थ अर्थात् जैन मत म० बुद्ध के पहले से प्रचलित न होता तो सच्चक का पिता, जो म० बुद्ध से पहले हुआ था[5] कैसे जैन होता?

'विनयपिटक' मे ऐसे बहुत से उल्लेख हैं जिनसे प्रगट है कि बुद्ध ने अपने बहुत से चारित्रनियम प्राचीन जैनो से लिए अथवा उनके अनुरूप निश्चित किये थे। 'महावग्ग' में लिखा है कि बौद्ध भिक्षुओं ने ऐसे लोगों को दीक्षित किया, जो आहार लेने के लिये नंगे जाते और हाथों में आहार लेते थे। इस पर जनता ने कहा कि बौद्धभिक्षु भी तीर्थङ्करों की नकल करने लगे।[6] यह उस समय की बात है जब भ० महावीर केवल ज्ञानी हुए

१ 'सर्वज्ञ आप्तो वा मज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् यथा वृषभ वर्धमाना दिरिति।' —न्यायबिंदु; अ० ३

2 The latter (Buddhist) borrowed the word Asrava from Jainism without its technical significance——— The Buddhist also used the word Samvara——— most probably adopted from Jainism.
— Dr. Jacobi, ERE' VII, 472

3 Historical Gleanings, pp. 11-12

४ मज्झिमनिकाय (P. T. S.) भा० १ पृ० २१५—२२६

५ डा० जैकोबी ने यही सिद्ध किया है। (जैनसूत्र SBE, भा० २ भूमिका पृ० २३)

६ विनयपिटक S.B.E, भा० १३ पृ०२२३

थे। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन तीर्थंक (जैन) मुनि भ० बुद्ध के पहले से नग्न रहते थे। इन प्राचीन जैनों से, जिन्हें बौद्ध तीर्थंक कहते हैं, बौद्धों ने वर्षावास, प्रोषध आदि नियम ग्रहण किये थे।[1] सारांशतः बौद्धग्रन्थ भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि जैन धर्म भ० महावीर से प्राचीन है और ऋषभ देव उसके आदि संस्थापक थे।

प्राचीन जैन धर्म में दिगम्बरत्व की विशेषता

भ० महावीर से पहले हुये तीर्थङ्कर भी सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे उन्होंने भी जीव-अजीव तत्वों का प्रतिपादन सप्तभङ्ग न्याय के अनुसार किया था। उनका मुनिवेश भी दिगम्बर था। श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ भी आदि तीर्थङ्कर ऋषभ और अन्तिम महावीर को दिगम्बर अचेलक प्रगट करते हैं। मध्यवर्ती तीर्थङ्कर सामायिक चारित्र का पालन करते थे। वैदिक और बौद्ध स्रोतों से हम देख चुके हैं कि भ० पार्श्वनाथ एवं उनसे भी पहले के जैनमुनि नग्न रहते थे। प्राचीन जैन मूर्तियां भी नग्न मिली हैं। यह स्पष्ट है कि प्राचीनतम काल मे जैन संघ में दिगम्बरत्व प्रधान रहा है। जब तक मानव प्रकृति का होकर नहीं रहता तब तक बाहरी बनावट मिटती नहीं और वह सत्य को पाता नहीं। अतएव जैनाचार्यों ने यथाजात रूप मे विचार कर आत्म शोधन करके मुक्त पद को पाया था। यही कारण है कि जैन धर्म अचेलक अथवा निर्ग्रन्थ मत के नाम से उल्लेखित होता था।

हम पहले ही देख चुके हैं कि वैदिक साहित्य में दिगम्बर मुनियों के रूप में जैनों का उल्लेख हुआ था। उपनिषदों में निर्ग्रन्थ साधु को "यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थों निष्परिग्रह शुक्लध्यान परायण:" (सूत्र ६ जावालोपनिषत)[2] लिखा है। हिन्दू 'पद्मपुराण' में में निर्ग्रन्थ (जैन साधु) को नग्न लिखा है।[3] 'वायुपुराण' मे जैन मुनि को नग्नता के कारण श्राद्ध धर्म में अदर्शनीय कहा है।[4] टीकाकार उत्पल व सायण ने भी निर्ग्रन्थों को नग्न क्षपणक माना है।[5] बौद्ध ग्रन्थों को अचेलक बताया है।[6] विशाखा - पठ्ठ -

---

१ भ० महावीर और म० बुद्ध ; पृ० २४०-२४२

२ दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ० २१—२६

३ नग्न रूपो महाकाव्य : सितमुण्डो महा प्रभः ।
अर्हन्तो देवता यत्र निर्ग्रन्थों गुरुरुच्यते ॥
(यह उल्लेख देवासुर संग्राम के प्रसंग का है)

४ वायुपुराण गुजराती पुरातत्व भा० ४ पृ० १८१

५ 'निर्ग्रन्थो नग्नः क्षपणकः।' —उत्पल
'कथा कोपीतोत्तरा संगादिनाम् त्यागिनो, यथाजात रूपधारा निर्ग्रन्थ— निष्परिग्रहाः।' —तत्वनिर्णय प्रसाद पृ० ५२३

६ मज्झिम० १। ९२, अंगुत्तर १ । २२०, दीर्घ १। ५८—४९ इत्यादि

'धम्मपदट्ट-कथा' में निर्ग्रन्थ साधुओं का वर्णन नंगे वेष में मिलता हैं।[1] 'दाढ़ावंसों' में निर्ग्रन्थों को नग्नता के कारण 'अहिरिका' कहा है।[2] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि प्राङ्-महावीरकाल से जैन साधु निर्ग्रन्थ कहलाते और नंगे रहते थे ।

शिलालेखीय साक्षी भी इसी मत की पुष्टि करती है। सम्राट अशोक के धर्म लेख में 'निगंठ' साधुओं का उल्लेख हुआ है। जिसका अर्थ प्रो० जनार्दन भट्ट नंगे जैन साधु करते हैं।[3]

सम्राट खारवेल के शिलालेख में भी निर्ग्रन्थ साधुओं का उल्लेख है।[4] तथा मथुरा और पहाड़पुर के पुरातत्व में भी निर्ग्रन्थ शब्द दिगम्बर जैन साधुओं का बोधक सिद्ध होता है। मथुरा में नग्न (दिगम्बर) मूर्तियों पर श्वेताम्बर गण गच्छादि के उल्लेख इस बात के प्रमाण है कि प्राचीनकाल में श्वेताम्बराचार्य जिनकल्प नग्नवेष को पूज्य मानते थे।[5] उपरान्त मथुरा कंकाली टीला के मूर्तिलेखों में निर्ग्रन्थ शब्द अर्हन्त के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है। उन पर नग्न मूर्तियाँ बनीं है।[6] अतः निर्ग्रन्थ विशेषण दिगम्बर मुनियों का द्योतक प्रकट होता है, जैसे कि वह पांचवीं शताब्दी के कादम्ब वंश के ताम्रपत्र में प्रयुक्त हुआ है। इस लेख में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का उल्लेख 'श्वेतपट-महाश्रमण-संघ' के नाम से तथा दिगम्बरों का 'निर्ग्रन्थ—महाश्रमण संघ' के रूप में हुआ है।[7] इससे बिलकुल स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ शब्द दिगम्बरत्व का बोधक रहा है।

पहाड़पुर (४७६ ई०) ताम्रपट्ट—लेख मे आचार्य गुहनन्दि के निर्ग्रन्थ संघ का उल्लेख है।[8] ईस्वी प्रारम्भिक शताब्दियों में मगध, पुण्ड्र समतट और कलिंग मे दिगम्बर जैनधर्म प्रबल था, वह बात 'दाठावंसों'[9] और हुएनत्सांग के भारत भ्रमण से स्पष्ट है।[10] इन दोनों स्थलों मे निर्ग्रन्थ शब्द

---

१ भा० १ (P.T.S.) खण्ड २ पृ० ३८४

२ दाठावंसो (लाहोर) पृ० १४

३ अशोक के धर्मलेख, पृ० ३७७

४ दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ० १२२-१२३

५ जैन स्तूप एण्ड अदर ऐन्टीक्वटीज ऑव मथुरा, २८

६ '..... शिलापटो पतिस्ठापितो निगन्थानम् अर्हता यतने सहत्मातरे ... .।'

७ 'कादम्बानां श्री विजयशिव मृगेशवर्म्मा काल-वङ्गग्रामं त्रिधा विभज्य दत्तवान .....—.... श्वेतपट महाश्रमण संघोपभोगाय तृतीयो निग्रंथ महाश्रमण संघोपभोगायेति ....।'

—जैन हितैषी, भा० १४ पृ०२२६

८ माडर्नरिव्यू, अगस्त १६३१, पृ० १५०

६ दाठावंशो (लाहोर) पृ० १०—२५

१० हुएनत्सांग का भारत भ्रमण (इलाहाबाद) पृ० ४७४-५४५

दिगम्बर जैन साधु के लिये प्रयुक्त हुआ है। अतः पहाड़पुर के उक्त ताम्रपट्ट लेख में में प्रयुक्त 'निर्ग्रन्थ' शब्द दिगम्बर जैन साधुसंघ का द्योतक है दिगम्बर जैनों में ही 'नंदिसंघ' प्रसिद्ध रहा है। आचार्य गुहनंदि उसी संघ के आचार्य प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल से दिगम्बरत्वका प्राबल्य जैन संघ में रहा है। मौर्यकाल के दुर्भिक्ष ने इस प्राचीन परम्परा में विकार उपस्थित किया था, जिसका कटुपरिणाम संघ भेद हुआ। पहले तो उन कतिपय साधुओं ने अपनी नग्नता छिपाने के लिए केवल एक खंड-वस्त्र रक्खा जिसे वे कलाई पर लटका लेते थे, जैसे कि कंकाली टीला की मूर्तियों मे चित्रण है। इसलिये वे 'अर्द्धफालक' कहलाये। उपरान्त ईस्वी प्रथम शताब्दी में उन्होंने जब श्वेत वस्त्र धारण कर लिये तब वे 'श्वेतपट' अथवा 'श्वेताम्बर' नाम से प्रसिद्ध हुए। यही कारण है कि स्वयं श्वेताम्बर विद्वान श्री पूर्णचन्द्र जी नाहर ने नग्न रहने को मूल नियम माना था[1] और इसी कारण विद्वज्जन दिगम्बर जैन मत को प्राचीन मानते हैं।[2]

निस्संदेह प्राचीन काल से उस समय से जब से कि आदि मानव गुफाओं में नंगा रहता था—नग्नता मानव चरित्र की स्वाभाविक स्थिति मानी गई और ऋषभदेव ने उसे चरित्र की परम परिपूर्णता का धार्मिक चिन्ह घोषित करके स्वयं अवधारण किया—वे नग्न होकर विचरे। और वैदिक आर्यों में नग्न योगियों का प्रायः अभाव था इसीलिए भारत में उस प्राचीन काल से ही दो परम्परायें, गंगा यमुना सी बहती हुई, मिलती है [१] ब्राह्मण और [२] श्रमण परम्परा। सिकन्दर महान जब भारत आया तो उसे दोनों परम्पराओं के योगी मिले। जैन श्रमण तो नग्न रहते थे, परन्तु ब्राह्मणों की

---

1 "Gradually the manners and customs of the church changed and the original practice of going abroad naked was abandoned. Then a section began to wear the 'white robe.'— P. C. Nahar, An Epilome Jainism, p. 9

2 " The Jains are divided into two great parties, Digambara and Swetambara. The latter have only as yet been traced, and that doubtfully, as far back as the 5th century after Christ. The former are almost certainly the same as Niganthas, who are referred to in numerous passages of Buddhist Pali Pitakas and must therefore be as old as 6th century B. C."
—Encyclopaedia Britanica (llth ed) Vol. XXV.

धर्मा भिन्न थीं।[1] इन्हीं दोनों परम्पराओं का समादर भारत में सदैव होता आया है।

इस विवेचन से पाठक दिगम्बर जैन धर्म की प्राचीन स्थिति का पता ठीक से पा चुके हैं, और इससे उनका प्राचीन सम्बन्ध गिरिनार पर्वत से स्वतः सिद्ध है।

अन्त में हम पुनः एक बार अपने मित्र सेठ फतहलाल जी खासगीवाला का आभार स्वीकार करते हैं, जिनकी प्रेरणा से यह पुस्तक लिखी गई है। यहां पर हम गिरिनार जी क्षेत्र के मुनीम जी श्री बाहावलराम जी को भी भुला नहीं सकते, जिन्होंने गिरिनार के चित्र व अन्य जानकारी देकर सहयोग दिया है।

आशा है, इस रचना से पाठकों को तीर्थ का ठीक परिचय हो सकेगा।

इतिशम्।

विनीत—

अलीगंज
२१-१०-५५

---

1 "......... the term Digambara ... ... is referred to in the well known Greek phrase 'Gymnosophist' used already by Megasthenes, which applies very aptly to Niganthas (Ency. Brit, XV· 128)

" .... the Gymnosophists .. ... were Jains and neither Brahmanas nor Buddhists and that it was a company of Digambaras of this (Jains) that Alexander fell in with near Taxiles"

—Rev. Stevenson, JBBRAS.Vol IV (1855) pp:401

"Stromateis, III 164, The Brahmans neither eat any thing having life nor drink wine ... But those Indians, who are called semnoc (Sramana) go naked all their lives. These practice truth etc

—*Mc*. Crindle's *Ancient* India (1091) p. 12

यदि श्रमण जैनों में वस्त्रधारी साधु भी होते तो यूनानी यह न लिखते कि श्रमण जीवन भर नंगे रहते थे।
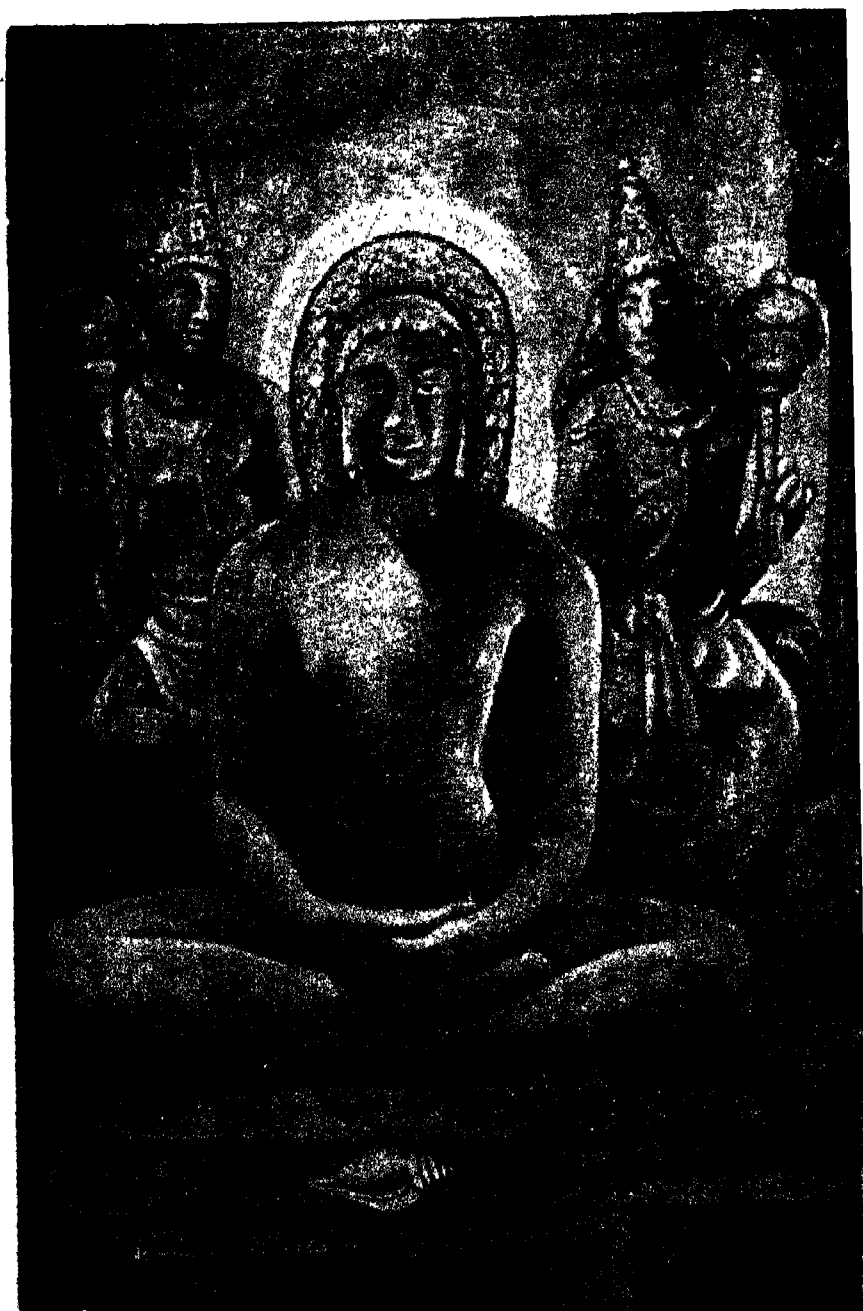
तीर्थङ्कर भ० अरिष्टनेमि

गिरिनार-गौरव

[१]

महान मङ्गल-क्षेत्र

"ककुदं भुवः खचरयोषि दुषिशिखरैरलंकृतः।
मेघपटल परिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥१२७॥
वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च।
प्रीतिविततहृदयैः परितो भृशमूर्ज्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥१२८॥
—वृहत्स्वयम्भू स्तोत्र

ऐसा लगता है कि भगवत् समन्तभद्र स्वामी जब गिरिनार पहुंचे तो वे पर्वत की पवित्रता और महानता देखकर आत्माह्लाद से विभोर हो गये और इस पवित्रपूत घटना का उल्लेख उन्होंने भ० नेमिनाथ की स्तुति में किया। उन्होंने लिखा है कि "हे ऊर्जयन्त ! तू कितना सुन्दर है क्योंकि तू पृथ्वी का वैसा समुन्नत भाग है जैसा कि बैल के शरीर में ककुद होता है—अथवा यूं कहिये कि वृष=धर्म का आगार होने के कारण तू महान है। तेरी शिखिरों पर सदा ही विद्याधर दम्पति विचरण करते हैं ! तू इतना ऊँचा और विशाल है कि मेघपटल तेरे तटभाग को ही छू पाते हैं—तेरे निम्न भाग में मंडराते रहते हैं। तेरे पवित्र गात पर स्वयं इन्द्र ने वज्रकर्ण से तीर्थंकर अरिष्टनेमि के कल्याणकों के पावन प्रतीक अंकित किये थे। इस प्रकार हे पर्वत ! तू आज भी धर्मार्जन का एक ऐसा साधन तीर्थ बना हुआ है कि तू अपनी ओर उन पूज्य ऋषियों और मुनियों को आकर्षित करता है। जिनका हृदय प्रेम से ओत-प्रोत है। वे तेरी वन्दना करने के लिए आते हैं। हे ऊर्जयन्त धर्मतीर्थ होने के कारण तू अचल है !"

निस्सन्देह आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने गिरिनार का गुणगान ठीक ही किया है। सचमुच गिरिनार महान और अचल है ! किन्तु उसकी महानता

बड़े बड़े राजाओं के राजनगरों की तरह नश्वर नहीं है—वह स्थायी है, क्योंकि वह पवित्र है-उसमें नैसर्गिकता है ! और वस्तु का स्वभाव मिटता नहीं ! सन् १९४० ई० में श्रवणबेलगोल के महामस्तकाभिषेकोत्सव से लौटते हुए जब हमने पहले-पहले गिरिराज के दर्शन किये, तो हम उसकी महानता देखकर आत्म विभोर हो गये। गिरिराज की महानता ने आत्मा की महानता का बोध कराया। आत्मा की शक्ति तो अपार है तभी तो भक्त चाहे नन्हा सा बालक हीं क्यों न हो ? मजे मजे में गिरिनार की ऊंचाई को लाँघ जाता है और प्रसन्न होता है। आत्मा की शक्ति वहाँ नहीं निवटती, यदि गिरिनार और ऊंचा होता तो भी भक्त उसे लाँघ जाता। गिरिनार की महानता हमें अपनी आत्मा की महानता का बोध कराती है।

'सोरठ के महल' द्वार पर जब हम पहुंचे तो जरा रुके और मुड़कर नीचे को देखा। ब्रह्ममुहूर्त की पावन बेला क्षितिज मे से झांक रही थी। दूर दूर तक शान्त निस्तब्धता छाई हुई थी, जो पवन के झोकों से कभी कभी भंग हो जाती थी। नीचे जूनागढ़ बिजली के कृत्रिम प्रकाश के आलोक में बहका हुआ पड़ा था। देखते-देखते वह हमारी दृष्टि से ओझल हो गया। हमारे और उसके बीच में सफेद बादलों का परदा पड़ गया। उस परदेसे ऊपर गिरिनार के अंक में बैठे हुए हम उन बादलों से अलिप्त थे, क्योंकि वे बादल गिरिनार के तलभाग में भी मंडरा रहे थे। संसार में भटकता हुआ जीव भी तो कर्मपटलों की परिधि से इसी प्रकार परे और अछूता रहता है, वह दृश्य मानो इस सत्यको ही हृदयङ्गम कराना चाहता था। आचार्य प्रवर स्वामी समन्तभद्रजो को भीं सभवत: गिरिनार के इस नैसर्गिक सौन्दर्य—'सत्यं शिवं सुन्दर' का आभास हुआ था—इसीलिए उन्होंने इसका उल्लेख उक्त श्लोकों में किया है। बस यही तो गिरिनार की महानता है।

गिरिनार पृथ्वीतल का सुन्दर समुन्नत भाग होने के साथ ही धर्मतत्व का अर्जन करने के लिए साधन भी है, वह तीर्थ जो है-यही आचार्य कहते है और ठीक कहते हैं। अभी सन् १९५२ में पुन: श्रवणबेलगोल की वन्दना को जाते हुए हमने गिरिराज के दर्शन किये और लौटते में भी उसकी सायामें वहाँ बैठ गये जहां पर गिरिराज के पार्श्वभाग में एक दिगम्बर जैन मूर्ति और धरणेन्द्र पद्मावती सहित भ० पार्श्व की प्रतिमा उत्कीर्ण है। वहाँ से हमने गिरिराज को भर आँखों देखा। एक बार नहीं, कई बार और हमने उसका प्रत्येक क्षण नया रूप पाया। वस्तु का परिणमन क्षणवर्ती है ऋजुसूत्रनय के आलोक में हमें अपने रूप मे भी तो ऐसे ही परिवर्तन होते दिखते हैं—भावों की तरतमता में हम ऊपर नीचे ढुलते रहते हैं। गिरिराज का दर्शन पवित्र भावों को जागृत करके मन के मैल को धो देता हैं—यह हमने अनुभव किया और तब मुंह से बरबस निकल गया—'नि:सन्देह गिरिनार मंगल क्षेत्र है।'

दूसरे क्षण माथा ठनका और प्रश्न उठा कि इस क्षेत्र में यह विशेषता क्यों ? भक्त हृदय बोला—वह तीर्थ जो हैं। भगवान नेमि और सती राजुल के त्याग और वैराग्य से पवित्र हो चुका हैं। तीर्थङ्कर भगवान के जीवन में केवल ज्ञान कल्याणक का महत्व सर्वोपरि हैं। अज्ञानता इस अवसर पर समूल नष्ट होती है और ज्ञान साकार हो चमकता है। तभी तो कहा है कि हजारों सूर्यों के प्रकाश से अधिक प्रकाश तीर्थंकर प्रभू का होता है। तीर्थंकर अरिष्टनेमि को अनन्तज्ञान की प्राप्ति यहीं हुई-गिरिनार पर ही वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी जीवन मुक्त परमात्मा होकर चमके। लोगों ने आंखों से यह देखा और उनको अपनी आत्मा की अनन्त शक्ति पर विश्वास हुआ। भ० नेमि ने जब अपना पहला उपदेश यहां दिया तो अनेक भव्य जीव उसे सुनकर प्रबुद्ध हुये—वे पुरुषार्थी बने, प्रभू नेमि के निकट उन्होंने मुनि और श्रावक के नियमों को पालने की प्रतिज्ञा ली ! नारायण कृष्ण ने तो द्वारिका-भर में घोषणा कर दी थी कि जो आत्मा का कल्याण करना चाहता तो वह भ० अरिष्टनेमि के पास जाकर दीक्षित हो जावे। इस घोषणा को सुनकर उनके रनवास में धर्मभाव की लहर दौड़ गई थी। रुक्मिणी आदि रानियाँ और प्रद्युम्नकुमार आदि राजकुमार गिरिनार पर भ० अरिष्टनेमि की वन्दना करने गये। उनके जयघोष से दिशायें गूंज उठीं। जिधर कान लगाइए उधर से एक ही ध्वनि सुनाई पड़ती थी—आकाश के कण-कण से और पत्तों की प्रत्येक सिहरन से यही सुनाई देता था—

अर्हन्त मङ्गलं !
अर्हन्त लोगोत्तमा !!
अर्हन्त सरणं पवज्जामि !!

अल्पकाल में ही अठारह हजार महाभाग प्रभू नेमि के संघ में मुनिव्रत पालने लगे और चालीस हजार महामना मनीषी आर्यिकायें आत्मा की शोध में लीन हो गईं। लाखों श्रावक और श्राविकायें यम नियमोंका अभ्यास करने लगे। सबका ज्ञानोदय जो हुआ था। सबमें आत्म श्रद्धा जो जगी थी सबने साक्षात अनुभव जो किया था कि जीवन—साफल्य की ठीक प्रेरणा अन्तर से ही मिलती है—आत्मबल के सहारे ही मानव अपने जीवन में सफल होता है ? ज्ञान के बिना चाहे लौकिक उत्थान हो अथवा आत्मोत्कर्ष का पावन अनुष्ठान—कुछ भी सफल नहीं होता। इसीलिए तो गिरिनार का कण-कण पवित्र हो गया है, क्योंकि ज्ञानमयी महत्तर दिव्य ध्वनि की पावन धारा में वह कई बार डुबकियां लगा चुका है। पवन के झोंकों के साथ वह गुनगुना उठता है:—

'ज्ञान समान न आन जगत में सुख का कारण।
यह परमामृत जन्मजरा-मृतु-रोग विदारण ॥'

निस्संदेह गिरिनार हमें परमामृत का रसपान कराने में निमित्तभूत है। प्रशस्त श्रम का पाठ वह हमें पढ़ा रहा है, अपने पावन गात में वह महा श्रमण तीर्थंकर अरिष्टनेमि—केवली प्रद्युम्न और शम्बु आदि की मूर्तियों और चरण चिह्नों को अवधारण किये हुए हैं। उनके दर्शन करते ही हमें बोध होता है कि उन महापुरुषों ने यहाँ तप तपा था—ध्यान माढ़ा था—उपदेश दिया था और सिद्ध पद को पाया था, वह सिद्ध क्षेत्र है, इसलिए तीर्थ है—उसके सहारे भक्त संसार-सागर को तिर कर उस पार पहुँच कर शाश्वत सुख में मगन हो जाता है। सभी प्रकार का मल धुल जाता है। और अलौकिक सौन्दर्य निखर आता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म की आराधना और अनुभव ही लोकोत्तर शुचिता और सौन्दर्य की आधारशिला है। यह रत्नत्रय धर्म गिरिनार पर एकत्रित हुए ऋषियों और मुनियों के अनुष्ठानों में मूर्तमान होता आया है। अतएव गिरिनार जैसे तीर्थ ही इस कारण लोकोत्तर शुचिता और सौन्दर्य पाने के योग्य उपाय हैं—प्रबल निमित्त हैं।[1] और यही वह कारण है जिससे कैलाश सम्मेदाचल, ऊर्जयन्त (गिरिनार), पावापुर आदि तीर्थ 'मंगल-क्षेत्र' कहे गये हैं।[2] इन मंगल क्षेत्रों की विधिवत पूजा करने का उपदेश इसीलिए शास्त्रकारों ने दिया है कि उनके अञ्चल में धर्म साधन की उपलब्धि विशेष होती हैं। श्री वसुनन्दि आचार्य लिखते हैं—

'जिण-जणम णिक्खवण णाणुप्पत्ति-मोक्खसंपत्ति।

णिसिहीसु खेतपूजा, तुव्वविहाणेण कायव्वा ॥४५२॥'

—श्रावकाचार पृष्ठ ७८

अर्थात्—'जिनेन्द्र की जन्मभूमि, दीक्षाभूमि, केवल ज्ञान उत्पन्न होने की भूमि और निसिही यानी मोक्ष प्राप्त होने की भूमि—इतने स्थानों में पूर्व कही हुई विधि के अनुसार (जल चन्दनादि से) पूजा करना इसका नाम क्षेत्र पूजा है। यह क्षेत्र पूजा का मानव के लिए आत्मशुद्धि का प्रेरक निमित्त बनती है।

---

१ 'तत्रात्मनो विशुद्ध ध्यान जल प्रक्षालित कर्ममल कलकस्य स्वात्मन्यवस्थान' लोकोत्तर शुचित्वं तत्साधनानि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तपांसि तद्वन्तश्च साधवस्तदधिष्ठानमर्मन च निर्वाणभूम्यादिकादि तत्प्रापयुपायत्वात् शुचिपदेशमर्हन्त।'

—चारित्रसार पृ० १८०

२ 'क्षेत्रमङ्गलमूर्जयन्तादिकमर्हदादीनां,
निष्क्रमण केवलज्ञानादि गुणोत्पत्तिस्थानम्।'

—गोम्मटसार

अतएव योगियों को योगनिष्ठा, ज्ञान-ध्यान और तपश्चरण से पवित्रपूत ये तारक-यान हैं ! उस पर गिरिनार दृश्य सिद्धक्षेत्र निर्वाण भूमि तो महा-मंगलमय मंगल क्षेत्र महातीर्थ है, क्योंकि उस पर से अगणित पुराणपुरुष ध्यान करके सिद्ध हुए हैं ! यहाँ ध्यान की सिद्धि विशेष होती है। यही कारण है कि भव्यजीव निरन्तर गिरिनार की शरण में पहुँचते हैं। वहाँ ध्यान माढ़कर पापमल को धोते हैं। अतः जय हो महा महिमा-मय मंगल-मय ऊर्जयन्त-गिरिनार की ! आइये उसके दर्शन करें। उसकी गगन चुम्बी चोटियों पर चढ़कर आत्मशक्ति की महानता का बोध प्राप्त करें। कुमार अवस्था में भ० अरिष्टनेमि और नारायण कृष्ण ने रैवत पर ही आनन्द-रेलियाँ कीं, उनकी स्मृति गंगा में आइए आनन्द की डुबकी लगाइए। सती राजमती के त्याग और तप का दर्शन भी ऊर्जयन्त की गुफा में कीजिए। यहाँ की चन्द्र गुफा में श्री धरसेनाचार्य ने और कांचन गुफा में श्री वीरसेन स्वामी ने तप-तपा और पवित्र बनाया। यह सभी कुछ आगे देखिये।

(२)
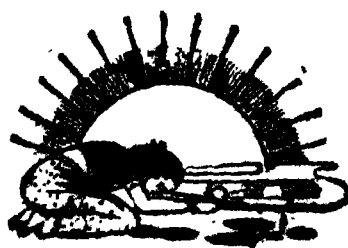
इतिहास के अञ्चल में

'मा मा गर्वममर्त्यपर्वत परां प्रीतिं भजन्तस्त्वया।
भ्राम्यन्ते रविचन्द्रमः प्रभृतयः के के न मुग्धाशया:।।
एको रैवतभूधरो विजयतां यद्दर्शनात् प्राणिनो।
यांति भ्रांति विवर्जिताः किल महानंदं सुखश्रीजुषः।।'

—रा० मण्डलीक का शिलालेख

'हे अमर पर्वत! गर्व मत करो, सूर्य-चन्द्र नक्षत्र तुम्हारे प्रेम में ऐसे मुग्ध हुए कि रास्ता चलना भूल गये हैं, (तुम्हारी ही प्रदक्षिणा देते हैं) किन्तु वही क्या? ऐसा कौन है जो तुम पर मुग्ध न हो। जय हो, एक मात्र पर्वत रैवत (गिरिनार) की, जिसके दर्शन करने से लोग भ्रांति को खोकर आनन्द का भोग करते और परम सुख को पाते हैं।' पाषाण पट पर उत्कीर्ण गिरिनार की यह गौरव गरिमा इतिहास के अञ्चल में उसकी कीर्ति की घोषणा कर रही है।

भारत का प्रमाणिक इतिहास शिशुनागवंश के राजाओं में प्रमुख नरेश महा मंडलेश्वर श्री श्रेणिक बिम्बसार से प्रारम्भ होता माना गया है।[1] यद्यपि मोइनजोदड़ो के पुरातत्व ने भारतीय इतिहास की अवधि को बहुत आगे बढ़ा दिया हैं, परन्तु अभी ऐसे साधन उपलब्ध नही हैं कि जिनके सहारे उनके इतिहास की कालगणना की जा सके। अत: सम्राट श्रेणिक बिम्बसार के समय से ही हम गिरिनार को लोग क्या और कैसा मानते थे, यह देखिए।

मगध के यह सम्राट श्रेणिक बिम्वसार अन्तिम तीर्थकर भगवान वर्द्धमान महावीर के अनन्य भक्त थे। भ० महावीर जब-जब राजगृह आये और विपुल अथवा वैभार पर्वत शिखिरों पर उनका समवशरण अवतरा, तब तब श्रेणिक उनकी वन्दना करने गये और खूब ही धर्म चर्चा करते रहे। उनके प्रश्नों के उत्तर स्वरूप ऐसे बहुत से प्रकरण मिलते हैं जो इतिहास के लिए महत्वपूर्ण है। इन प्रश्नोत्तरों में हमें गिरिनार का भी उल्लेख मिलता है।

---

१ अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ३३-५४

एक बार श्रेणिक-बिम्बसार विपुलाचल पर भगवान महावीर की वन्दना करने गए और उनने प्रश्न किया कि प्रभो! गिरिनार-ऊर्जयन्त का माहात्म्य क्या है? तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि में उन्होंने जो उत्तर सुना उसे सुनकर श्रेणिक और श्रोता कृतकृत्य हो गये। सबने जाना कि जहाँ दुष्कर्मों पर विजय पाई जाती है वह ऊर्जयन्त है और वह द्वारिका के पास सोरठ (सौराष्ट्र) में है। भगवान के गणधर इन्द्रभूति गौतम ने उस प्रश्नोत्तर को लिपिबद्ध किया और आज हम उसे पुराणों में पढ़ रहे हैं।

तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि के वर्णन ने श्रोताओं को ऋषभ युग में पहुँचा दिया था। ऋषभ पहले तीर्थंकर और सभ्यता के आदि शिक्षक थे। उन्होंने कृषि आदि कर्म करना लोगों को बताये—नाना प्रकार के आविष्कार किये[1] इसीलिए वे आदि ब्रह्मा और अवतार माने गये हैं।[2] उस कृषियुग (Agriculture Age) में ही भ० ऋषभ के पुत्र भरत महाराज पहले चक्रवर्ती सम्राट हुए थे जिनके नाम से यह देश भारत वर्ष कहलाया।[3] जब सम्राट भरत दिग्विजय करने निकले तो उन्होंने सौराष्ट्र में भी सम्मान प्राप्त किया और गिरिनार-ऊर्जयन्त की वन्दना को गये। भरत ने विचारा कि आगे चलकर इस भरत क्षेत्र में तेईस तीर्थंकर और होंगे—पहले तीर्थंकर ऋषभदेव ने उन तीर्थंकरों के विषय में सब कुछ बता दिया है। इस ऊर्जयन्त पर्वत पर बाईसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि तप तपेंगे, ज्ञानी होंगे और मुक्त भी होंगे। यह भावी घटना विचार कर भरत ने तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि का स्मरण और नमस्कार किया तथा ऊर्जयन्त का परिक्रमा दिया।[4] इस प्रकार गिरिनार का पहला उल्लेख ऋषभ-युग में मिलता है।

ऊर्जयन्त की पवित्रता की गूँज विविध काल-क्षेत्र में गूंजती रहीं जिसने अनेक विद्याधरों, द्राविड़ों और असुरों को आकृष्ट किया। वे निरन्तर ऊर्जयन्त पर विचरते और तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि की जीवनी को याद करके अपवर्ग के लिए पुरुषार्थी बनते थे। तीर्थंकर अरिष्टनेमि ने ही ऊर्जयन्त

---

१ 'अहिंसा वाणी' का ऋषभ विशेषांक देखो।

२ हिन्दू पुराण 'भागवत' (अ० ५) में ऋषभ को आठवां अवतार लिखा है।

३ 'येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठ गुण आसोद्येनंद —
वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति।६। —श्रीमद्भागवत ५, ४
'ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते,
भरताय यतः पित्रा दत्तं प्रातिष्ठता वनम्।।३२।। —विष्णुपुराण

४ 'नृपान सौराष्ट्र कानुष्ट्र वामीशतभृतोपदान्।
स भाजयन् प्रभुर्भेजे रम्या रैवतकस्थली।।०१।।
सुराष्ट्रे यूर्जयन्ताद्रिम् अद्रिराजमिवोच्छ्रितम्।
ययौ प्रदक्षिणीकृत्य भावितीर्थं मनुस्मरन्।।१०२।। — महापुराण त्रिंशत्पर्व

को तीर्थ बनाया था। न वे उस पर तप तपते, उपदेश देते और मुक्त होते, न वह तीर्थ बनता। नारायण कृष्ण और बलराम भी अपने परिजनों सहित ऊर्जयन्त पर विचरे और भगवान की वन्दना करने आये थे। स्वामी समन्तभद्र जी ने लिखा है—

'द्युतिमद्रथाङ्गरविबिम्बकिरण जटिलांशुमण्डलः।
नील जलदजलराशिवपुः सहबन्धुभिगरुड़केतुरीश्वरः॥'

'हे प्रभो, जिनके शरीर की कांति प्रभावान सूर्यमण्डल की किरणों से व्याप्त हैं और जो सौन्दर्य में नीलकमल के पत्तों की भांति हैं, उन पृथ्वी पति गरुड़ध्वज कृष्ण वासुदेव ने भी अपने बन्धुओं सहित आपको नमस्कार किया हैं।'

'हल भृच्च ते स्वजनभक्ति मुदित हृदयौ जिनेश्वरौ ।
धर्म विनयरसिकौ सुतरा चरणारविंदयुगलं प्रणमेतुः॥'

'लोक के स्वामी और बन्धुजनों की भक्ति में मुदित हृदय एवं धर्म-विनय के रसिक हलधर-बलभद्र ने भी आपके युगल चरणारविन्द को नमस्कार किया है।'

ऐसे ऐसे महापुरुषों की चरणरज से गिरिनार पवित्र हुआ और उसकी धवलकीर्ति दूर-दूर देशों तक फैली। 'सू' जाति के राष्ट्रिको और उनके सूराष्ट्र (सौराष्ट्र) का वह मुकुटमणि बना। सूराष्ट्र के बड़े वणिक भ० अरिष्ट नेमि के अनन्य भक्त थे—उन्होंने विदेशों में जाकर नये उपनिवेश बसाये और अहिंसा संस्कृति को फैलाया।[1] उनके शासक भी जिनेन्द्र भक्त हुये। कहते हैं, बाबुल (Babylonia) के नरेश नभश्चन्द्र (Nebuschandezzar) रैवत पर्वत पर भ० नेमि की वन्दना करने आये थे और वहाँ एक मन्दिर बनवाया था।[2]

नागवंश के अग्रणी कामदेव नागकुमार भी ऊर्जयन्त की वंदना करने आये थे और गिरिनार में रहे थे।[3] भ० पार्श्वनाथ के समय में भी मुनि और श्रावक इस तीर्थ की वन्दना करके अपने भाग्य को सराहते। राजा करकंडु गिरिनयर में आकर ठहरे और यहाँ की राजकुमारी के साथ उनका

१ ऋषभदेव के साले सु-कच्छ देश के थे जो विजयार्द्ध पर जा कर बसे थे। उपरान्त जैन सम्राट सु-वीर भी प्रसिद्ध हुये। विशेष के लिए 'विशाल भारत,' भा० १८ अङ्क ५ पृ० ६२६ पर प्रकाशित 'सुमेर सभ्यता की जन्मभूमि भारत' शीर्षक लेख देखिए।

—संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० ३ खंड १ पृ० ७०-७८

२ संजैइ०, भा० ३ खण्ड १ पृ० ७३

३ नागकुमार चरित (कारंजा सीरीज) पृ० ७७

विवाह हुआ था।[1]

भ० महावीर के समकालीन राजा उदयन वीतभय नगर में राज्य करते थे। वह भी गिरिनार की ओर आकृष्ट हुये प्रतीत होते हैं। उदयन के पश्चात सिंधु और सौराष्ट्र पर मौर्य चन्द्रगुप्त का अधिकार हो गया था और अपने अन्तिम जीवन में वह भी गिरिनार पर अपने गुरु भद्रबाहु स्वामी के साथ वन्दना करने पधारे थे।[2] इसके पूर्व चन्द्रगुप्त के साले स्येनपुष्य गुप्त ने यहाँ 'सुदर्शन' नाम की एक झील बनाई थी।[3] भद्रबाहु स्वामी के गुरु गोवर्द्धन स्वामी भी संघ सहित गिरिनार की यात्रा करने आये थे और रैवताचल पर ठहरे थे। मुनि भद्रबाहु भी इस संघ में सम्मिलित थे।[4] निस्सं-देह प्रारम्भ से ही गिरिनार दिगम्बर जैन मुनियों और ऋषियों का केन्द्र रहा है।

एक समय ऊर्जयन्त पर्वत की पलासिनी-स्वर्णरेखा आदि नदियों में इतनी जोर की बाढ़ आई कि उससे सुदर्शन झील का बाँध टूट गया। उस समय इतने जोर का तूफान आया कि उसके कारण पर्वत की शिखरें दीवालें, इमारतें और वृक्षादि सब गिर गये थे। मौर्यों के पश्चात यहाँ जब छत्रपवंश के राजाओं का अधिकार हुआ, तो रुद्रदामा ने सुदर्शन झील आदि का जीर्णोद्धार कराकर शिलालेख अंकित कराया था।[5]

चन्द्रगुप्त के पश्चात मौर्य सम्राटों में अशोक, सम्प्रति और सालिसूक गिरिनार को भुला न सके। उन्होंने यहाँ अहिंसा धर्म का प्रचार किया। सम्प्रति ने भ० नेमिनाथ का नयनाभिराम मन्दिर बनवाया था। संभवतः वह उपर्युल्लिखित तूफान में नष्ट हो गया था। जो हो उनके नाम का एक जैन मन्दिर आज भी गिरिनार पर मौजूद है। 'गर्गसंहिता' से स्पष्ट है कि अंतिम मौर्य सम्राटों में सालिसूक ने भी जैनधर्म का प्रचार सौराष्ट्र में किया था।[6] तब वह गिरिनार को भला कैसे भुला सके होंगे? उनके बाबा सम्राट अशोक तो यहाँ पर आकर पूरे शाकाहारी बने थे—उन्होंने गिरिनार

---

१ करकण्डु चरिउ (कारंजा) पृ० २५

२ "सिरिउज्जयन्तसिहरे णाणाविह मुणिवरिन्द संपुण्णो चउविह संघेण जुद।
सुयसागर पाणां धीरं सिरि भद्दबाहु सामि णमिसिता गुत्ति-गुत्ति मुणिणीहिं परिपुच्छियं पसत्थं अद्धं परढ्ढावणं जयणो।" —भद्रबाहुसंहिता

३ Bargess, The Report on the Antiquities of Kathiawad and Kacchha P. 129 (आगे Report लिखेंगे)

४ 'चिकीर्षुर्नेमितीर्थेशयात्रां रैवतकाचले।' —भद्रबाहु चरित पृ० ११
और दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, पृ० १०७-१८४

५ Report, P. १२९

६ संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २ खंड २ पृ० ६ (कामताप्रसाद 'ब जैन०')

की चट्टान पर धर्मलेख खुदवाये और उनके द्वारा जनता को अहिंसा धर्म की शिक्षा युग युग के लिए प्रदान की। उन्होंने घोषित किया कि—

"यह धर्म लेख देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ने लिखवाया है। यहाँ (इस राज्य में) कोई जीव मारकर होम न किया जाय और न (हिंसा वर्द्धक) समाज (उत्सव) किया जाय, क्योंकि देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत दोष देखते हैं। तथापि एक प्रकार के ऐसे (अहिंसक) समाज उत्सव है जिन्हें देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ही पसन्द करते हैं। पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में प्रतिदिन कई सहस्र जीव सूप (शोरवा) के लिए मारे जाते थे, पर अब से जब कि यह धर्म लेख लिखा जा रहा है केवल तीन ही जीव मारे जाते हैं [अर्थात] दो मोर और एक मृगः पर मृग का मारा जाना नियत नहीं है। यह तीनों प्राणी भी भविष्य नहीं मारे जायेंगे।"

ऐसा लगता है कि अशोक गिरिनार आये, तो तीर्थंकर अरिष्टनेमि के आदर्श जीवन से इतने प्रभावित हुए कि पूर्ण अहिंसक बन गये। उनकी यह अहिंसक मनोवृत्ति सर्वथा जैन अहिंसा ही के अनुरूप है। डा० कर्न ने लिखा था कि अशोक की अहिंसा बौद्धों की अपेक्षा जैनों की अहिंसा के अनुकूल है। अहिंसा ही क्या! अशोक के धर्म लेखों की बहुत सी बातें जैनों के ही अनुरूप हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक अपने अन्तिम जीवन में जैन धर्म से अत्यधिक प्रभावित हुये थे और उन्होंने निग्रंन्थ मुनियों के लिए गुफायें भी बनवाईं थीं।[1]

छत्रपवंश के राजाओं के अधिकार में जब गिरिनार रहा तब भी वहाँ जैन-धर्म का उत्कर्ष होता रहा था। महाछत्रप नहपान जैन धर्म की ओर आकृष्ट हुए थे और प्रभावित हुए सम्भवतः जैन मुनि हो गए थे।[2] उनके वंशज छत्रप रुद्रसिंह ने गिरिनार में निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन मुनियों के लिए गुफायें बनवाईं थीं।[3] आचार्य कुन्दकुन्द भी यहाँ पधारे थे और श्रीधरसनाचार्य तो यहां रहते ही थे।

गुप्त सम्राटों ने यहाँ सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया था उपरान्त आठवी-नवीं शताब्दि मे सिन्धुदेश से यहाँ आकर चूड़ासमास वंश के

---

१ प्रथम शिलालेख-अशोक के धर्मलेख, पृ० ११०

२ 'सम्राट अशोक और जैन धर्म' नामक हमारा ट्रैक्ट देखिए।

३ [illegible], भाग २, खंड २; पृ० २१-२६

राजाओं ने गिरिनार पर अधिकार जमाया था। चूंकि प्राचीनकाल से गिरिनार पर दिगम्बर जैन मुनियों का आवास रहा और दि० जैन मुनि-संघ लोक कल्याण में निरत रहा, अतः चूड़ासमास वंश के राजा भी उनके भक्त हो गये थे। उनमें से खडार, मंडलीक आदि तो जैन धर्म की प्रभावना मे चन्द्रगुप्त अथवा सम्प्रति की होड़ करने लगे थे। दुर्भाग्यवश जब जैन धर्म में सम्प्रदायवाद का भेद-विष पड़ा तो उसकी आत्मा विकल हो गई और वह अपना एकाग्र रूप खो बैठा! जैन दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में बट गये। कैसे बटे इसका विवरण यथास्थान आगे पढ़िये। यहाँ तो हमें रा खंगार की जिन भक्ति का परिचय देना अभीष्ट है। जब श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने गिरिनार से दिगम्बरों को हटाकर अपना अधिकार जमाना चाहा तो रा खंगार उनके संघपति धाराकके सामने आ डटे—धार-उनके सम्मुख टिक न सके और परास्त होकर वापस चले गये। रा खंगार अपने इस सुकृत के कारण दि० जैन धर्म के इतिहास में अमर हो गये।[1] इन्ही के वंश में रा मंडलीक हुये, जो भ० नेमि के अनन्य भक्त थे। उन्होंने गिरिनार पर एक नयनाभिराम स्वर्णखचित जिन मदिर बनवाया था, जिसमें उन्होंने भ० नेमि की प्रतिमा विराजमान की थी।

चूड़ासमास वंश के पश्चात गिरिनार अणहिलवार पट्टन के सोलंकी राजाओं के अधिकार में आ गया। सिद्धराज ने रा खंगार की पत्नी रानिक देवी के रूप सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसे अपने रनवास मे ले आने के बुरे संकल्प से गढ़ गिरिनार पर आक्रमण किया था यद्यपि रा खंगार इस युद्ध में खेत रहे, परन्तु रानिकदेवी सिद्धराज को न मिली। वह अपने शीलधर्म की रक्षा के लिए प्राणों पर ही खेल गई। सिद्धराज ने सज्जन नामक एक श्वेताम्बर जैन धर्मानुयायी राजमंत्री को गिरिनार का शासक नियुक्त किया, जिन्होंने राजकोष का सभी रुपया गिरिनार पर मूल्यवान जिन मन्दिर बनाने में व्यय कर दिया। पहले तो सिद्धराज नाराज हुए, परन्तु सज्जन के समझाने पर वह संतुष्ट हो गये।

सम्राट कुमारपाल गिरिनार की वन्दना करने आये थे और उन्होने वहाँ अपूर्व शिल्प सौन्दर्य के कलामय जिन मंदिर बनवाये थे। इस काल में दिगम्बर और श्वेताम्बर—सभी जैनी गिरिनार की वन्दना करने आते रहे!

मुस्लिमकाल में अलवत्ता गिरिनार की व्यवस्था छिन्न भिन्न हो गई। तो भी जैनों ने उसे अपना तीर्थ बराबर माना और निरन्तर वन्दना करने आये। दिल्ली के बादशाहों की अनुमति से सेठ पूर्णचन्द्र जी आदि ने गिरिनार यात्रा के संघ निकाले थे। अन्त में गिरिनार ब्रिटिश शासन के

---

१ Burgess, The Report pp. १४१-१४३

२ जैन सिद्धांत भास्कर, भाग ६ किरण ३ पृ० १, १६५२-१६५३

अधिकार में आया और नवाब जूनागढ़ के संरक्षण में उसका उद्धार हुआ अब स्वतन्त्र भारत में उसका अपना गौरव है। उसके रूप और उसकी पवित्रता पर सभी मुग्ध हैं सभी उससे सम्यक् आत्मबोध पाने और जीव मात्र पर दया करने की प्रेरणा लें, इसी में गिरिनार का महत्व और लोक का कल्याण है। इतिहास में वह सत्कर्मों के प्रतीत रूप में अमर है।

शिला लेखों के आलोक में।

'श्री उज्जन्त गिरिराज मधि प्रतीते
सद्धर्म्म कर्म करणोद्यमिनां जानानां।
सान्निध्यमोहिममो पुरुमेघनादा—
लेशधियप्रभृतय— - शाः सृजन्तु ॥५॥'

—रा मण्डलीक का शिलालेख।

'हे लोकनाथ! तुम्हारी हितकारी वाणी मेघों के नाद के समान है तुम श्री गिरिराज ऊर्ज्जयन्त के प्रख्यात स्थान पर सद्धर्मकर्मरत भव्य पुरुषों के हित के लिए आ विराजमान हुये थे।' निःसन्देह प्रशस्ति लेखक गिरिनार की महत्ता तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि की दिव्य ध्वनि वर्षा के कारण हुई ठीक ही बताते हैं। भगवान नेमि गिरिनार पर आ विराजे और दुष्कर्मों को नष्ट करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी बने, इसीलिए गिरिनार अथवा रैवत सार्थक नाम ऊर्ज्जयन्त की महानता पर मुग्ध हो गया और उसने अपनी भक्ति को पाषाण और ताम्रपटों पर अंकित करके अमर बना देना चाहा। हमें एक ओर प्राचीनकाल से ऐसे शिलालेख एवं ताम्रपत्र मिलते हैं, जिनमें तीर्थंकर नेमि और गिरिराज-गिरिनार का ऊर्जयन्त अथवा रैवत नाम से बखान हुआ मिलता है।

ऐसे लेखों में काठियावाड़ के प्रभास पट्टन से मिला हुआ बाबुल (Babylonia) के बादशाहनेबुचन्द्र (Nebuchadnazzar) का ताम्रपट लेख सर्वप्राचीन है। इसे डा० प्राणनाथ ने निम्न प्रकार पढ़ा था।[1]

"रेवानगर के राज्य स्वामी, सुजोति का देव, नेबुचड नज्जर आया है वह यदुराज के नगर (द्वारिका) में आया है। उसने मंदिर बनवाया। सूर्य — .... —देव नेमि कि जो स्वर्ग समान रैवत पर्वत के देव हैं (उनको) हमेशा के लिए अर्पण किया।"

('जैन'—भावनगर भा० ३५ अंक १ पृ० २)

---

१ 'टाइम्स ऑफ इन्डिया'-१९ मार्च १९३५

भ० नेमिके अति निकट काल तक यह ताम्रपट लेख हमें ले जाता है क्योंकि नभश्चन्द्र (Nebuchadnazzar I) का समय ११४० ई० पू० माना गया है। उस समय द्वारिका यादवों की राजधानी रही। और रैवत पर्वत भ० नेमिके कारण पवित्र माना जाता था।

मथुरा कङ्काली टीला से जो बहु प्राचीन जिन मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं, उनमें एक कुशन कालीन मूर्ति भ० अरिष्टनेमि की भी है, जिस पर लिखा है:—

"वर्ष १८, वर्षा ऋतु का २ रा महीना, १२ वां दिन, ३ रा दिना की पुत्री मितशिरि (मित्रश्री) के दान रूप भ० अरिष्ट नेमि को ......।"

इससे भ० अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता का आभास मिलता है। गिरिनार पर एक प्राचीन लेख निम्न आशय का अंकित बताया गया है:—

"सं० ५८ वर्षे चैत्र वदी २ सोमे धारागंजे पं० नेमिचन्द्र शिष्य पंचाण चन्द्र मूर्ति।"[2]

इससे स्पष्ट है कि धारागञ्ज के पं० नेमिचन्द्र के शिष्य ने एक जिन मूर्ति गिरिनार में स्थापित की थी।

गिरिनार में जैन धर्म सम्बन्धी दूसरा सर्व प्राचीन लेख छत्रप रुद्रसिंह, का है, इसका खण्ड भाग ही मिलता है, जिसे डा० बुल्हर ने इस प्रकार पढ़ा:—

**" ... ... वत ... ... ण ... . छत्रप...
(स्वामि) चष्टनस्य प्र (पौ) त्रस्य राज्ञः क्षत्रपस्य स्वामिजयदाम पौत्रस्य राज्ञो महाक्ष ... ...
(चै) त्र शुक्लपक्षस्य दिवसे पंचमे [५] इस गिरि नगरे देवासुर नाग यक्ष राक्षसेन्द्रि ....
.... प्रक ? (मिवप ~ .... केवलि ज्ञानप्राप्तानां जितजरामरणानां—। .... ।"[3]**

इस लेख के विषय में डा० बर्जेस ने स्पष्ट लिखा था कि "प्रस्तुत लेख मे केवलिज्ञानसंप्राप्ताना' वाक्य महत्वपूर्ण है, जिसका प्रयोग जैन शास्त्रों में विशेष रूप से है। अतएव यह लेख जैनों का है। इससे प्रमाणित होता है कि गिरिनार की इन गुफाओं को सौराष्ट्र के साही राजाओं ने जैनों के

---

१ जैन शिलालेख संग्रह (मा० चं० ग्र०), भाग पृ० २५

२ ASI., xvi, p. 357, n. 20, जैन शि० सं०, पृ० १६

3 The Report....p. 141

लिए ईस्वी द्वितीय शताब्दि के अन्तिम पाद में खुदवाया था। संभव है, गुफायें लेख से प्राचीन हों।"[1] बर्जेस सा० का यह कथन सत्य को छू रहा है, क्योंकि दिगम्बर जैन शास्त्रों से हमें ज्ञात होता है कि ईस्वी १ ली २ री शताब्दि के लगभग गिरिनार की चन्द्र गुफा में अंगज्ञान के ज्ञाता श्री धरसेनाचार्य रहते थे। उन्हें केवल भगवान का ज्ञान अर्थात अंगज्ञान प्राप्त था जिसका उद्धार उन्होंने भूतिबलि और पुष्पदंत आचार्यों के सहयोग से लिपिलद्ध कराकर किया था यह घटना ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को घटित हुई थी और दिगम्बर जैन संघ की एक महान् घटना थी। अतः बहुत संभव है कि उक्त लेख में इसी घटना का उल्लेख किया गया हो, क्योंकि उपरोक्त आचार्यगण 'केवलि ज्ञान सम्प्राप्तनं' थे ही और लेख की तिथि शुल्क पक्ष की पंचमी है मास का नाम स्पष्ट नहीं है। हो सकता है, जिसे बुल्हरं सा० ने 'त्र' पढ़ा है वह अक्षर 'ष्ठ' हो। इस शिला लेख को पुनः पढ़ने की आवश्यकता है!

गुप्त वंश के राजाओं का शिलालेख भी गिरिनार में है, जिसमें गिरिनार और सुदर्शन झीलका उल्लेख है। ऊर्जयन्त गिरिनार को मैत्री और प्रेम का प्रतीक मानते हुए लेखक ने लिखा है कि 'ऊर्जयन्त (गिरिनार) ने पालाशिनी आदि अपने नदी रूपी हाथों को मैत्री भाव से सागर के प्रति बढ़ा कर उसके प्रति प्रेम की धारा ही बहा दी, परन्तु सुदर्शन झील में ऐसा तूफान आया कि लोग भयभीत हो गए और वह नष्ट हो गई। उसका जीर्णोद्वार कराया गया।[2]

गिरिनार पर्वत पर भ० नेमिनाथ मन्दिर के दक्षिण ओर वाले प्रवेश द्वार के प्रांगण की पश्चिम दिशा में बने हुए एक छोटे मन्दिर की दीवाल पर टूटे हुए पाषाण पर निम्नलिखित लेख अंकित हैं, जो संभवतः ९ वीं १० वी शताब्दि का है—

---

1 - The Report, p. 137-

2—"The most interesting about the word 'Kevalijnana Sampraptnam,—'of those who have odtained the Knowlebge of Kevalins, which occurs most frequently in Jaina scriptures, and denotes a Person who is possessed of the Kevalijnana or true Knowledge, which produces final emancipation. It would, therefore, seem that the inscription is of Jainas, from this it would appear that these caves were probably excavated for the Jainas by the Sahi Kings of Saurashtra about the end of the second century of the Christian era. They may, however, be much older."- The Report: pp. 141-143.

।। स्वस्ति श्री धृति

।। नमः श्री नेमिनाथायक

।। वर्षे फाल्गुन शुदि ५ गुरौ श्री

।। तिलक महाराज श्री महीपाल

।। बयरसिंह भार्या फाउ सुतसा

।। सुतसा साईआ सा० मेला-मेला

।। जसुता रूड़ी गांगी प्रभृती

।। नाथ प्रसादा कारिता प्रातिष्ट

।। ··· द्रसूरि तत्पट्टे श्री मुनिसिंह

।। कल्याणत्रय

अनुवाद-- 'स्वस्ति श्री धृति ···· ···· श्री नेमिनाथ को नमस्कार ···· —— वर्ष ···· — ··· फाल्गुन सुदी ५, बृहस्पतिवार, श्री ···· ··· श्री महीपाल, महाराज और ··· ···· के तिलक — ··· फाऊ नामु की वयरसिंह को भार्या, उसका पुत्र माननीय ···· ···· ···· उसके पुत्र माननीय साईआ और मेला-मेला ···· ···· ···· उसकी पुत्रियां रूड़ी, गांगी इत्यादि । इन सबने एक नेमिनाथ का मन्दिर बनवाया-जिसकी प्रतिष्ठा ···· ···· ···· ···· ···· द्रसूरि के पट्ट पर विराजमान श्री मुनिसिंह ने की ···· —— ···· कलणयत्रय ·····—·····—।'[1]

दिगम्बरीय मूलसंघ में 'सिंह' नाम का मुनि सम्प्रदाय प्रसिद्ध रहा है। लगभग इसी समय एक मुनि रामसिंह प्रसिद्ध थे, जिन्होंने 'पाहुड़दोहा' की रचना की थी।

दक्षिण भारत के कल्लरगुड्ड (शिमोग) से प्राप्त सन् ११२१ ई० के शिलालेखमें भ० नेमिके निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख है। उस समय अहिच्छत्र में विष्णुगुप्त राजा राज्य करते थे। उन्होंने हर्षातिरेक में ऐन्द्रध्वज पूजा की थी, जिसस इन्द्र प्रसन्न हुआ और उसने उन्हे ऐरावत हाथी भेट किया था।[2]

गिरिनार के श्री नेमिनाथ मन्दिर की चहार दीवारी में डा० बर्जेस को कुछ शिलालेख मिल थे, जिनमें उल्लेखनीय इस प्रकार है:—

"ठ० संवत् १२१५ वर्षे चैत्रसुदि ८ रवौ अद्येह श्रीमदूज्जयन्ततीर्थे जगत्या समस्त देवकुलिका सक्रछाजा कुवालि संविरण सर्व ठ९० सालवाहण प्रतिपत्या सु० जसहड़ ठ0 सावदेवन परिपूर्ण

१— जैन शिलालेख सग्रह; द्वितीय भाग; पृ० १६४

२— जैन शिलालेख संग्रह; पृ० ४२२

कृता तथा ठ० रुरक्षसुत ठ० परिसालिवाहेण बागरु रिसिराया परि... कारित श्री चंच्चारिदिशांकृत कंडक मंतिरं तदधिष्ठात्री श्री अंबिकादेवतिया देवकुलिमा च निष्मादिता !'

इसका भाव यह है कि सं० १२१५ में ठा० सावदेव और जसहड़ने ठा० सालवाहृण की स्मृति में श्री ऊर्ज्जयन्त तीर्थ पर समस्त देवकुलिकायें परिपूर्ण कीं थीं ···· ── ···· उसी वर्ष ठा० रुरक्षके पुत्र परि ¨ ── ने बागरु (बागड़ !) के ऋषिशय सलित्राहृण के स्मार्क में श्री अम्बिकादेवी की बनबाई। 'बागरु रिसिराया' का अर्थ यदि 'बागड़ऋषिराज' किया जाय तो सालिवाहृण जी बागड़ दि० जैन संघ से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।

कर्नल टाड सा० को गिरिनार पर कुछ ऐसे शिलालेख भी मिले थे जिन में गिरिनार पर प्राचीन मन्दिरों के स्थान पर नये मन्दिर बनाये जाने का उल्लेख है।[2] एक शिललेख में लिखा था कि 'सं० १२१५ (११५८ई०) में श्री पं० देवसेन की आज्ञानुसार संघने चैत्रसुदी ८ रविवार के दिन देव-के प्राचीन मन्दिरों के स्थान पर नये मन्दिर बनवाए।' एक दूसरे शिलालेख को टाड सा० ने इस प्रकार पढ़ा था:—

'स० १३३९ (१२८३ई०) ज्येष्ठ सुदी १० वृहस्पतिवार को पुराने मन्दिरों के भग्नावशेषों को रेवताचल पर्वत पर से हटाकर नये मन्दिर बनबाये गये।'

यह उस समय का लेख है जब कि गिरिनार सोलंकियों के अधिकार मे आगया था और अज्जन आदि श्वे० जैन राज्याधिकारी वहां के शासक नियुक्त हुए थे। नये मन्दिरों को बनवाने की धुन में पुरानों का उद्धार करना आवश्यक समझा गया !

१६ जनवरी सन १८७५ ई० को डा० जेम्स बर्जे सा० ने गिरिनार की यात्रा की। उन्होंने लिखा है कि जूनागढ़ से १७५० फीट की ऊँचाई पर जहाँ से सीढ़ियाँ आरम्भ होतीं हैं वहाँ से कुछ ऊपर निम्नलिखित शिलालेख हैं:—

'स्वस्ति श्री सम्वत् १६८१ वर्षे कार्तिवदि ६ सोम श्री गिरिनार तीर्थनी पूर्वनी पातनो चढ़यावा श्रीढीवतोसंघे घीऐपा निमित्ते श्री मालज्ञातीस्यामासिंघजी मेघम्मीमे ऊद्यने कराव्यो।'

इसमें पूर्व पांति की सीढ़ियों की मरम्मत कराने का उल्लेख है। इस शिलालेख से २५० फीट ऊपर निम्नलिखित अन्य शिलालेख हैं:—

१- The Report, p. 169

2- Ibid.p. 169

(१) 'सं० १२१२ श्री श्रीमालज्ञातातीयमहं श्री राणि-
रामुसुत वंड श्री श्रावकेन पद्यवा (का) रिता।[1]

(२) 'सं० ११२३ महं० मीराणीगसुत श्रावाकेन पद्या
कारिता।[2]

(३) 'सं० १२२२ श्री सीमालज्ञातीयमहं श्री राणिगसुत
वंड श्री श्रावाकेन पद्या कारिता।

इन लेखों में श्रावकों द्वारा सोड़ियां बनवाने का उल्लेख है।

जैन मन्दिरों के मुख्य द्वार पर गिरिनार गढ़ के शासक रा मंडलीक का विशद् काव्यमयी शिलालेख अंकित है, जिसका प्रारम्भ इस प्रकार होता है:—

(४)"मतेः श्र ष्ठ सद्धीमानसो सबोधनापातिम्भया भूप परि-
तागो तुरागामयः इत्यादि।

इसमे गिरिनार का उल्लेख ऊर्जयन्त और रैवत दोनों नामों से हुआ है और उसकी शोभा का बखान भी खूब किया गया है। एक श्लोक देखिए:—

''नानातीर्थोपवनतटिनीकाननै रम्यहर्म्यैः
पौरभूमोपतिपृथु कृतात्यंतसोख्यैरसंख्यै।
शश्वद भूबाभृदपि विपुलो राष्टवर्यः सुराष्ट्रः
राष्ट्रो दध्रेऽनुपमगिरिराट् रैवतालंकृतिं य ।।

भावार्थ—सुराष्ट्र के श्रेष्ट राष्ट्र मे स्थित अनुपम रैवत यद्यपि खूब ही समलंकृत है परन्तु उसकी शोभा नाना तीर्थो, क्रीड़ाकुञ्जों, झरनों, बनों, राजाओं के सुन्दर महलों मे और भी बढ़ गई है।"[2]

इस शिलालेख मे रा मडलीक द्वारा भ० नेमिनाथ का स्वर्णखचित मन्दिर बनाये जाने का उल्लेख है।

इसी के पास में ही मंत्रि प्रवर वस्तुपाल --तेजपाल का शिला लेख है, जिसमे भी गिरिनार का सुन्दर वर्णन किया गया है। वहीं पर एक अन्य शिलालेख इस प्रकार है[3]:—

---

1 Burgess, "Memorandum on the Antiquities at Dabhoi, Ahmedabad. Than, Junagadh, Girnar and Dhank, Bombay 1875. p. 18.

2 The Report, p. 160

3 Burgess Memorandum—— pp. 31-32

"ॐ नमः सर्वज्ञाय संवत १४८५ वर्षे कार्तिक सुदि पञ्चमि ५ बुधे श्री गिरिनार माहतिष्ठा सा षेतसिह निर्वाण श्री मंत्रिबलीपवंशे श्रीमत सुमायड़गोत्रे मतिबाणठा भदाप्रजा ठा० लासु ततराल ठा०-ठा०-षेतसिह भार्या बाई चन्दण-गट्टी श्रीनेमिनाथ चरण प्रणमतिशुभं।"

श्री नेमिनाथ मन्दिर के सहन में एक पाटिया पर निम्नलिखित चरण-चिन्हों सहित अंकित है, जिसे डा० बर्जेस ने अपने सग्रह में नं० २८ पर यूं लिखा है[1]—

"हर्ष कीर्ति नी पादुका"

"संवत् १६६२ श्री मूलसंघे श्री हर्षकीर्ति श्री पद्मकीर्ति भुवनकीर्ति ब्र० अमर सिमाणमन जी पं० वीर जैंयन्त माइदासबयाला लेसां ६ नेमियात्रा सफलास्तु ॥"

इससे स्पष्ट है कि दिगम्बरीय मूलसंघ के भ० हर्षकीर्ति ने संघसहित नौवार गिरिनार की यात्रा की थी। उनके शिष्यों ने इस पावनस्मृति में उनके चरणचिन्ह स्थापित किए थे।

इनके अतिरिक्त गिरिनार के मन्दिरों मे बिराजमान जिनमूर्तियों पर भी लेख है, जिनसे जैनों की मान्यता का बोध होता है।

निस्सन्देह गिरिनार जैनों का एक महान तीर्थ रहा है उसकी पवित्र मान्यता की प्रसिद्ध दूर-दूर देशों के श्रावको मे हो गई थी। दक्षिण भारत के दिगम्बर जैनों में गिरिनार इतना पवित्र माना जाता था कि वे अपने दानपत्रों के अन्त में दान की स्थिरता के लिए ऊर्जयन्त की सौगन्ध लिखाते थे। उनको यह भी पता था कि गिरिनार पर ऋषियों का संघ रहता है। सुदूर दक्षिण से वे गिरिनार की यात्रा करने आते थे तभी तो गिरिनार की वास्तविक दशा का उल्लेख करते हैं। उडुपि तालुका के कापू नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख में लिखा है कि सन् १५५६ मे मद्द हेग्गड़े नामक दि० जैन सरदार ने जब श्री देवचन्द्र देव को भूमिदान दिया तो उसके अन्त में लिखाया था कि जो कोई इस दान को मेंटेगा उसे बेल्गोल के गोम्मटनाथ, कोपण के चन्द्रनाथ, और ऊर्जयन्त गिरि (गिरिनार) के नेमीश्वर की मूर्तियों को खंडित करने का पाप लगेगा। इससे स्पष्ट है कापू के दिगम्बर जैनी गिरिनार तीर्थ से खूब परिचित थे। यही बात गेरसोप्पे नगर के दिगम्बर जैनों के लिए भी कही जा सकती है। सन १५१३ में वहां के शासक देव भूप ने शंखजिनवस्ति के लिए भूमिदान दिया था। अपने दान

1 Memorandum......., p. 32

पत्र के अन्त में उन्होंने लिखा था कि जो इस दान को मेटेगा उसे उर्जयन्त पर्वत पर ऋषिहत्या का पाप लगेगा। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि गेरसोप्पे के जैनों को गिरिनार पर मुनिजनों के आवास का भी विश्वास था। निःसन्देह गिरिनार निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) मुनिजनो की तपो भूमि प्राचीन काल से रही है। केलदिय सदाशिवनायक के ताम्रशासन में भी गिरिनार का उल्लेख इस प्रकार से हुआ है :–

"इस धर्म के प्रतिकूल चलने वाले जैनी बेल्गोलस्थ गुम्मटनाथ, कोपणस्थ चन्द्रनाथ ऊर्जयन्तगिरिस्थ नेमिनाथ आदि जिन प्रतिमाओं को फोड़ने के पापभागी होंगे।"

ऐसे ही और भी शिलालेखीय उल्लेख उपस्थित किये जा सकते हैं, परन्तु गिरिराज ऊर्जयन्त गिरिनार की महानता और पवित्रता को स्पष्ट करने के लिए यही पर्याप्त है! पाषाण पटों पर लिखी हुई इस काव्यमई वाणी के द्वारा ऊर्जयन्त का जो गुणगान और इतिहास का वर्णन किया गया है, वह अमर है। उसे पढ़ कर मानव का हृदय श्रद्धा से नमता और हृदय दया से भीग जाता है! वह मानवता का अर्थ समझता और जीवन पथ में आगे बढ़ता है! जय हो ऊर्जयन्त को! जय हो रैवत को!

[४]

जैनसाहित्य में विशद वर्णन ।

"लाड वंश पज्जुण्णो सम्भुकुमारो तहेव अणिरुद्धो।
बाहत्तर कोडीओ उज्जयन्तो सत्तिसया सिद्धा ॥"

—भूवलय निर्वाण गाथा

जैन साहित्य में गिरनार तीर्थ का विशद वर्णन मिलता है । प्राचीन जैन साहित्य में गिरनार का उल्लेख ऊर्जयन्त और रैवत नामों से हुआ है। उपरान्त जब उसकी प्रसिद्ध गिरिनयर की अपेक्षा 'गिरिनार' नाम से हुई तब जैन ग्रन्थों में उसका उल्लेख गिरिनार नाम से होने लगा। 'भूवलय' नामक अद्भुद ग्रन्थ में, जिसे विश्व का ज्ञान भंडार कहना चाहिये, उक्त निर्वाण गाथा द्वारा ऊर्जयन्त पर्वत से प्रद्युम्न, संभुकुमार और अणिरुद्ध यादवकुमारों को बहत्तर करोड़ और सात सौ मुनियों के साथ मुक्त हुआ लिखा है । उन्हें लाड़वंश का संभवत: इसलिये लिखा है कि यादवों का शासन लाड़देश पर था। 'भूवलय' में लिखा है कि इस गाथा को प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने भरत बाहुबलि को बताया था । जो हो, इससे स्पष्ट है कि जैन साहित्य में ऊर्जयन्त (गरिनार) की मान्यता अतीव प्राचीनकाल अर्थात ऋषभ युग की है । 'महापुराण' में भरत द्वारा ऊर्जयन्त की वन्दना का उल्लेख मिलता ही है। उक्त गाथा में भ० नेमिका उल्लेख नहीं है, परन्तु 'निर्वाण कांड गाथा' में ऐसी गाथा भ० नेमि के नामोल्लेख सहित मिलती है, जो निम्न प्रकार है—

'णेमिसामि पज्जण्णो संबुकुमारो तहेव अणिरुद्धो ।
बाहत्तरकोडीओ उज्जन्ते सत्तसया सिद्धा ॥४॥

ऊर्जयन्त तीर्थङ्कर नेमि के कारण ही पूज्य तीर्थ हुआ यह सर्वमान्य है[१]। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के साहित्य में गिरिनार का वर्णन है, यद्यपि श्वेताम्बरो मे शत्रुंजय तीर्थ की मान्यता विशेष है ।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के जैनों का साहित्य अंग-प्रविष्ट और अंगबाह्य (प्रकीर्णक) रूप से दो प्रकार का मिलता है। अंग-प्रविष्ट साहित्य द्वादशाङ्ग रूप तीर्थंकरोपदिष्ट होता है। अंग और पूर्व ग्रन्थों

---

१ अट्ठावयम्मि उसहो; चंपाए वासुपुज्ज जिणणाहो ।
उज्जन्ते णेमि जिणो, पावाए णिब्बुदो महावीरो ॥१॥

—निर्वाण कांड गाथा

में तीर्थङ्कर महावीर और उनसे पहले तीर्थङ्करों के उपदेशों और सिद्धान्तों को ग्रंथबद्ध किया जाता है। प्रकीर्णक साहित्य में अंग साहित्य के आधार से रचे गये विविध आचार्यों के ग्रन्थों का समावेश होता है। अतः हम दोनों ही प्रकार के साहित्य से गिरिनार का परिचय यहां पाठकों को करायेंगे।

किन्तु इस प्रकरण में यह बात ध्यान में रखने की है कि अंगसाहित्य का ज्ञान ऋषिपरम्परा की स्मृति में सुरक्षित रहा था। ज्यों २ ऋषियों की स्मृति क्षीण हुई त्यों त्यों वह लुप्त होता गया। अङ्गज्ञान के लुप्त होने का उल्लेख सम्राट ऐल खारवेल के हाथी गुफा वाले प्राचीन लेख में भी है। ऐल खारवेल ने उसके उद्धार के लिए ऋषियों का सम्मेलन भी बुलाया था, परन्तु उसमें क्या सफलता उन्हें मिली, यह ज्ञात नहीं।[1] इस प्रकार भ० महावीर के निर्वाण से ६८३ वर्ष व्यतीत होने पर अङ्गों और पूर्वों के एक देश के भी ज्ञान लुप्त होने की विकट स्थिति आ गई थी। उस समय सोरठ (सौराष्ट्र) देश के गिरिनयर पट्टण की चन्द्रगुफा में श्री धरसेन स्वामी अङ्गज्ञान के ज्ञाता विद्यमान थे।[2] गिरिनार की इस गुफा में उन्हें श्रुतोद्धार का बोध हुआ। उन्होंने दक्षिण पथ की महिमा नगरी में एकत्रित दिगम्बर मुनिसंघ के पास पत्र भेजा। संघ ने भूतवलि और पुष्पदन्त नामक प्रखर बुद्धि मुनिपुङ्गवों को गिरिनार भेज दिया। श्रीधरसेन स्वामी ने उनको पात्र जानकर उन्हें अंग ज्ञान का बोध कराया। उन्होंने उस अंगज्ञान पर टीकायें रचीं और उनको ज्येष्ठ शुक्ला पन्चमी को लिपिबद्ध किया। इन ग्रन्थों में अग्रायणीय पूर्व के चयनलब्धि अधिकार के चतुर्थ प्राभृत 'कम्मपयडि' एवं 'ज्ञान प्रवाद' नामक पंचम पूर्व के दशमवस्तु अधिकार के अन्तर्गत तीसरे 'पेज्जदोस पाहुड़' का मौलिक समावेश है। इस प्रकार ईसा की दूसरी शताब्दि मे गिरिनार पर अवशेष अङ्गज्ञान का लिपिवद्ध करने का पुण्य प्रसंग घटित हुआ था, यह दिगम्बर जैनों की मान्यता है।[3]

श्वेताम्बर जैनों की मान्यता इससे भिन्न है वे सभी पूर्व ग्रथों और अंगों में आचारांगादि के कुछ अंशों का लोप हुआ बताते हैं। शेष सभी अङ्ग ग्रन्थ उनको उपलब्ध रहे, जिनको ईस्वी छठी शताब्दि में बल्लभीनगर में दवार्द्धिगणि क्षमा क्षमण ने लिपिबद्ध कराया था।[4]

अब आइये, पाठक, पहले दिगम्बर जैन साहित्य में गिरिनार का

---

१ जर्नल आव दी विहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १३ पृ० २३६

२ तेण वि सोरठ विसय गिरिणंयर पट्टण चंद्रगुहा ठिएण ....धरसेण.... ......

— षटखण्डागम, खण्ड १ पृ० ६७

३ 'धवल' टीका भाग १ भूमिका पृ० १३-२०

४ संक्षिप्त जैन इतिहास भाग २ पृ० ११६-१२१

परिचय पा लें। 'महापुराणादि' के आधार से यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि दिगम्बर जैन संघ में गिरनार की तीर्थ रूप में मान्यता प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ के समय से ही है। संभव है, कि कुछ पाठक कहें कि वृषभ देव और भरत महाराज के समय में तो नेमिनाथ जी का नाम भी नहीं था, तब गिरिनार को तीर्थ कैसे माना गया होगा? किन्तु इसमें शङ्का के लिए स्थान नहीं है, क्योंकि उस समय जब प्रथम तीर्थङ्कर त्रिकाल के ज्ञाता सर्वज्ञ हुए तो उन्होंने २२ वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ का परिचय जनता को करा दिया था कि भ०नेमि गिरिनार पर तपश्चरण करके मुक्ति प्राप्त करेंगे। इसीलिए भरत जी एवं अन्य लोगों ने तब गिरिनार का स्मरण भावी तीर्थ के रूप में किया था। उपरान्त भ० नेमिनाथ के दीक्षा ज्ञान और निर्वाण कल्याणकों के कारण ऊर्जयन्त गिरिनार एक महान तीर्थ और निर्वाणधामई मंगल क्षेत्र बना हुआ था। आगम साहित्य में उसे 'क्षेत्रमंगल' कहा है और उनका चन्द्रगुफा में श्रुतज्ञान के ज्ञाता मुनिवरों का आवास रहा बताया है।

श्री षटखण्डागम (धवला) सिद्धांत ग्रन्थ की 'जीवट्ठाण टीका' में सम्यक्त्व उपलब्धि में कारणभूत जिनबिम्बादिका उल्लेख करते हुये गिरिनार का उल्लेख 'उज्वन्त' (ऊर्जयन्त) नाम से निम्न प्रकार किया गया है—

> **'लद्धि संपण्णरिसी दंसणंपि पढम सम्मत्तुप्पत्तीए कारणं होदि। तमेत्थ पुधकिण्णभण्णदे ? ण एदस्सवि जिण बिंबदसणो अन्तब्भावादो। उज्जंत चंपा पावा णयरावि दंसणपि एदेणेव घेतव्व"**

इससे स्पष्ट है कि चम्पा और पावा जैसे तीर्थों के अनुरूप उज्जंयन्त भी सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए पावन निमित्त माना जाता था।

प्रकीर्णक दिगम्बर जैन साहित्य में सब से पहले हम यतिवृषभाचार्य प्रणीत 'तिलोयपण्णत्ति' को लेते हैं। उसमें भ० नेमि के निर्वाण क्षेत्र के रूप में ऊर्ज्जयन्त का उल्लेख है।[1] साथ ही उसकी गणना 'क्षेत्रमङ्गल' के उदाहरण में की गई है। (एदस्स उदाहरण पावाणयरूज्जंतचम्पादी')

श्री हरिषेणकृत 'वृहतकथाकोष' में गिरिनार का उल्लेख कई कथाओं में किया गया है। ऊर्जयन्त पर्वत पर जब नेमि भगवान केवल ज्ञान को उपार्जन करके विराजमान हुए और उपदेश देने लगे तो यादवगण उनकी वन्दना करने गये थे। वासुदेव कृष्ण और बलराम ने उनसे कई प्रश्नोत्तर किये थे।[2] श्रीसमन्त भद्राचार्य जी भी 'स्वयंभूस्तोत्र' में इस प्रसंग की

---

१ तिलोयपणति (शोलापुर) देखो।

२ 'अन्यदा विहरन क्वपि नेमिः केवल संयुक्तः
ऊर्जयन्त गिरेस्तुंगे शिखरे स्थितवानसौ ॥१८॥
नेमिनाथ समाकर्ण्य दशार्हा दशभक्ततिः।
वासुदेवी बले नामा वन्दनार्थं समाययुः ॥१९॥ —वृहतकथाकोष

उल्लेख किया था। ऊर्जयन्त पर्वत पर रैवतक उद्यान प्रसिद्ध था, वहीं गज कुमार ने तप तपा था, उपसर्ग सहा था और मुक्त हुए थे।[1] प्रद्युम्नकुमार भी वन्दना करने आये थे।[2] नेमिनिर्वाण के पश्चात् ऊर्जयन्त की तीर्थरूप में प्रसिद्धि दूर २ तक हो गई। चन्डवेग विद्युन्माली प्रभृति विद्याधर नरेश भी ऊर्जयन्त पर स्थित नेमिनिषिधि की वन्दना करने आये थे। यह निषधि प्राचीन स्तूपों की याद दिलाती है यह निषधिस्तूप गिरिनार पर किस ढङ्ग का था यह जानने के लिये कोई साधन नहीं है। प्राचीन इमारतें प्रकृति एवं विधर्मियों के कोप से नष्ट हो चुकी हैं। किन्तु इस उल्लेख से गिरिनार पर जैन निषधिरूप स्तूप होने का पता चलता है।[3]

हरिषेणजी ने दिव्य ऊर्जयन्तगिरि को भरत क्षेत्रान्तर्गत जम्बूदीप में पश्चिमीय समुद्र के समीप सौराष्ट्र विषय में गिरिनार के पास स्थिति लिखा है।[4] गिरिनार की स्थिति आज भी ठीक ऐसी ही है। हरिषेण जी ने अंग पूर्वों के ज्ञाता गोवर्द्धनस्वामी के गिरिनार आकर नेमिप्रभू की वन्दना करने का भी वर्णन लिखा है।[5] साथ ही गिरिनयर (गिरिनार) की चन्द्रगुफा में श्रीधर सेनाचार्य और उनके द्वारा श्रुतोद्धार होने का विवरण भी लिखा है।[6]

श्री जटासिंहनन्दि आचार्य ने 'वरांगचरित' में ऊर्जयन्त को धरणीधर पर्वतों में प्रमुख, जनार्दन का क्रीड़ावन प्रदेश और यदुवंश केतु भ० अरिष्टनेमि द्वारा पवित्रपूत लिखा है।[7]

---

१ ततोगजकुमारोऽयं कुर्वाणो विविध तपः।
प्राप रैवतकोद्यानं नानातरुविराजितम॥ -इत्यादि

— वृहत्कथाकोष पृ० ३१४,

२ वृहत्कथाकोष ३४

३ अन्यदा चण्डवेगेन विद्युन्माली तड़ित्प्रभः।
ऊर्जयन्तगिरिं यातो नन्तुं नेमिनिषद्यकाम् ॥२४४॥

—वृहत्कथाकोष, पृ० ३१२

४ अत्रैव भरत क्षेत्रे जम्बूद्वीप समन्विते।
पश्चिमार्णव समीप्ये सौराष्ट्रविषयेवरे ॥१६४॥५७॥
ऊर्जयन्तगिरेर्दिव्यं पश्चिमाण समुद्र भवम्।
नगरं विद्यते नाम्ना नगरं गिरि पूर्वकम् ॥१६५॥

—वृहत्कथाकोश, पृ०१०७

५ 'ऊर्जयन्तं गिरिं नेमिं स्तोतुकामो महातपाः।'—वृहत्कथाकोष, पृ० ३१०

६ वृहत्कथाकोष पृ० ४२

७ 'तमुज्जयन्तं धरणीधरेन्द्र जनार्दन क्रीड़ावन प्रदेशम्।
यो दिव्य मूर्ति यदुवंश केतुः सोऽरिष्टनेमिभगवान्बभूव॥'

—वृहत्कथाकोष पृ०२५०

श्री जिनसेनाचार्य जी के 'हरिवंश पुराण' में गिरिनार का विशद वर्णन मिलता है। उसमें लिखा है।

'रुक्मिणी को लेकर कृष्ण गिरिनार पर्वत पर आगये और वहां रुक्मिणी के साथ विवाह किया।,

(कलकत्ता संस्करण पृ० ४८६.)

"एक समय बसन्त ऋतु का आगमन होने से क्रीडा करने के लिये चक्रवर्ती कृष्ण अपनी पटरानी, भ० नेमिनाथ, अनेक राजा महाराजा और पुरवासियों के साथ-साथ अनेक पुष्पों से व्याप्त गिरिनार पर्वत के वन में गये ॥ २६ ॥ उस नाना प्रकार के स्त्री-पुरुषों से मंडित वह गिरिनार का वन देव-देवांगनाओं से व्याप्त मेरुपर्वत में नजदीक वनों की तुलना करता था ॥३०॥

(पृ०४६०)

" उस समय यद्यपि उष्णता अधिक थी, तथापि गिरिनार पर्वत पर शीतलजल के निझरने झरते थे, इसलिए वह [ग्रीष्मऋतु] भी अधिक प्रिय लगने लगी, जिससे कि वे कृष्णादिक वहां सानन्द रहने लगे ॥५०॥ यद्यपि भ० नेमिनाथ स्वभाव से ही राग उत्पन्न करने वाली चेष्टाओं से विमुख थे तथापि कृष्ण की स्त्रियाँ उन्हें एक दिन घेर कर शीतल जल से परिपूर्ण सरोवर पर लेआईं और नेमिनाथ के साथ जलक्रीड़ा करने लगी ॥५१॥ "(पृ०४६२)

बावीसवें तीर्थङ्कर के गर्भ और जन्मकल्याणक यद्यपि शौरीपुर में घटित हुए थे, परन्तु व यादवों के साथ द्वारिका में आकर रहने लगे थे। यादव कुमारों के साथ वह वनविहार के लिए गिरिनार जाया करते थे। जब नेमिकुमार का विवाह होने लगा और बरात जूनागढ़ गई, तब एक करुणाजनक दृश्य ने उन्हे संसार से विरक्त कर दिया। बात यह हुई कि विवाह प्रसंग में भीलों के सरदार भी आये थे जो मांसभक्षी थे—उनके डेरो के सन्निकट निरापराध पशु बंधे हुए छटपटा रहे थे। नेमिकुमार ने उनको देखा और पूछा तो वह संसार की रीति से भयभीत हो गए। कैसा क्रूर है मानव जो भोले भाले पशुओं के प्राण अपनी जीभ के स्वाद के लिए लेता है! क्या वह किसी को जीवन भी दे सकता है? नेमिकुमार ऐसे ही विचारों में मग्न हो गए और उन्होंने विवाह न करने का दृढ़संकल्प किया, तोरण द्वार से वह लौट गए और गिरिनार पर जाकर तपस्या करने लगे। 'हरिवंश पुराण' में इस का वर्णन इस प्रकार है :—

"भगवान देवसेना के साथ गिरिनार पर्वत पर आगये ॥१३॥ उस पर्वत को हम मेरु की उपमा नहीं दे सकते, क्यों कि वहाँ तिमिर बिनाशक सूर्य चन्द्रमा के रहने पर भी महात्माओं का दर्शन नहीं होता और यहां (गिरिनार) पर उनका सदा जाज्वल्यमान प्रकाश रहता है ॥४॥११ ……………गिरिनार पर्वत के उपवन में जाकर निष्काम भगवान जिनेन्द्र की आज्ञा से एक जगह इन्द्र ने उनकी पालकी रख दी। (भगवान एक शिला पर जाकर बैठ गये और सिद्धों को नमस्कार करके पन्चमुष्टि केशलोच किया। उन्होंने सभी परिग्रह का त्याग करके निर्ग्रन्थ मुनिपद धारण किया) जहां पर भगवान ने जीवों की रक्षा करने वाला पवित्र तप आचरण किया था, उस दिन से वहाँ प्रसिद्ध तीर्थ की स्थापना हुई ॥२४॥"–पृ० ४६६-४६७

जब राजमती ने सुना कि नेमिकुमार मुनि हो गए हैं, तो वह भी संसार से विरक्त हो गई और नेमिकुमार के पीछे-पीछे गिरिनार पर जा पहुँची। पहले तो उन्होंने नेमिजी से गृहवास करने का आग्रह किया, किन्तु अन्त में वह प्रभु नेमि के उपदेश को सुन कर प्रबुद्ध हो गई और वहीं गिरिनार की गुफा में तप तपने लगी।[1] दिगम्बर जैन मन्दिरों के नीचे श्री राजुल की गुफा मौजूद है, जिसमें सती राजुल की मूर्ति की वन्दना करने दिगम्बर जैन यात्री जाते हैं—हम भी उनके दर्शन करके कृतार्थ हुए थे।

उपरान्त गिरिनार पर ही छप्पन दिनों तक छद्मस्थ रहकर भ० नेमिनाथ केवल ज्ञानी हुए।[2] यहां ही उन्होने अपना पहला उपदेश यादवों को दिया 'भूवलय' ग्रन्थ मे लिखा है कि तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि ने नारायण कृष्ण को अर्द्धमागधी गीता का उपदेश दिया, जिसका प्रारम्भ निम्नलिखित गाथा से होता है—

"सित् थण, बोधमावगछे, सेवअसयण यच सजिदे।
नु (द्)धातुबिको कडिडे, बिबधहू, उरदिचिबेजु, ललजायचना॥"

इसके पश्चात धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए सर्वज्ञ प्रभू नेमि ने विहार किया

१ 'सन्ध्येव भानुमस्ताद्रावनु राजीमतिश्चतम्।
ययौ त्राचापि दत्तानां न्यायोऽयं कुलयोषिताम्॥१७२॥७१॥
— उत्तरपुराण,

२ छप्पण दियह स मोहजालु, बोलोणहुउहु छम्मस्थकालु।'
—पुप्फयन्तविरइयउ महापुराण; पृ० १९४

वह भद्दिलपुर (भेलसा) गये और वहां देवकी के ६ पुत्रों को दीक्षा दी। उपरान्त वह समस्त आर्य देशों में विहरे। जब एक बार घूमते हुए गिरिनार पर आकर रैवतक उद्यान में विराजे तो कृष्ण जी ने उनसे द्वारिका-नाश का कारण पूछा और जाना कि कतिपय यादव कुमारों की उदण्डता और मद्यपान से रुष्ट होकर द्वीपायन मुनिकी क्रोधाग्नि से द्वारिका भस्म होगी। यह सुन कर लोगों को वैराग्य हुआ और बहुत से मुनि हो गए। यादव कुमारों ने मद्य पीना छोड़ दिया, परन्तु विधि के विधान को मेंट न सके थे। इसी समय प्रद्युम्न, शम्बु और अनिरुद्ध आदि यादवकुमार भी मुनि हो कर गिरिनार पर तप तपने लगे और केवल ज्ञानी होकर उसकी तीन कूटों से मुक्त हुए थे।[1] नेमिनाथ जी पुनः विहार करने चले गये और पल्लव देश में अधिक समय तक विहरे। वहीं पाँडवों ने सुना कि कृष्ण जी अकाल कालकबलित हुए हैं, तो वे नेमिनाथ जी के निकट मुनि हो गए और उनके साथ विहार करते हुए शत्रुञ्जय पर्वत से मुक्त हुए अन्त में गिरिनार आ गए। 'हरिवंशपुराण' में लिखा है:—

"जिस समय (भ० नेमि के) निर्वाण कल्याण का समय समीप आ गया तो अनेक देव-मनुष्यों से सेवित वे गिरिनार पर्वत पर पुनः लौट आये, जिससे कि जैसी पहिले उस पर्वत पर समवशरणकी रचना हुई थी वैसी ही फिर हो गई और अपने-अपने स्थानों पर तिर्यञ्च मनुष्य और देव स्थित हो गये। भगवान ने वहां पर··· ··· ··· ··· ···परमधर्म का उपदेश दिया। ··· ··· ···

फिर भगवान ने एक मास पहले योगों का निरोध कर समस्त अघातिया कर्मों को भी मूल से नष्ट कर दिया और वे अनेक मुनि-जनों के साथ निर्वाण शिला पर जा विराजे।

गिरिनार पर्वत पर इन्द्र ने परम पावन सिद्ध शिला निर्मापी और उसमें भगवान जिनेन्द्र के समस्त लक्षण वज्र से अंकित कर दिये।

---

१ द्वीपायननिदानावसाने जाम्बवती सुतः।
अनिरुद्धश्च कामस्यसुतः सम्प्राप्य संयमम् ॥१८९॥
प्रद्युम्नमुनिना सार्धमूर्जयन्ता चलाग्रताः।
कूटत्रयं समारुह्य प्रतिमायोगधारिणः ॥१९०॥
शुक्ल ध्यानं समापूर्य त्रस्ते घाति-घातिनः।
कैवल्य नवकं प्राप्य प्राप्तमुक्ति मथान्यदाः ॥५१९१॥७२॥

—उत्तरपुराण

... ...समुद्र विजय आदि नौ भाई देवकी के युगलिया छः पुत्र और कृष्ण के पुत्र शंबु और प्रद्युम्न आदि अन्य भी मोक्ष गये। इसलिए उस समय से गिरिनार आदि निर्वाण स्थान संसार में विख्यात हुए और तीर्थयात्रा के लिए आए हुए मनुष्यों से सर्वदा शोभित रहने लगे।"—पृ० ६१८-६१९

'हरिवंश पुराण के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भ० नेमिनाथ से पहले गिरिनार पर्वत यादवों की क्रीड़ाभूमि था—उनके विवाहादि शुभकार्य गिरिनार पर हुआ करते थे गिरिनार शैल सुन्दर वनों और मनोहर झरनों तथा गम्भीर सरोवरों से शोभायमान था। उसकी शिखिरों और गुफाओं में मुनिजन ध्यान किया करते थे। तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि ने गिरिनार के सहस्राम्र-वन में दीक्षा ली[1] और उसकी गगनचुम्बी शिखिर पर ध्यान माढ़ा था और वहीं से मुक्त हुए थे। इस प्रकार गिरिनार एक पूज्य तीर्थ बना और तबसे यात्रीगण उसकी वन्दना-यात्रा करने आते हैं! इन्द्र ने उस पर भ० नेमिके कल्याणकों वज्रदण्ड से अंकित किया था—वहां उनकी निषधि भी थी।

महाकवि स्वयम्भू ने 'अरिष्टनेमिचरिउ' में भ० नेमि का चारित्र और गिरिनार पर तप-तपने, केवल ज्ञानी हो कर उपदेश देने और वहीं से मुक्त होने का वर्णन काव्यमई सरस भाषा में किया है। महाकवि जगन्नाथ जी ने तो अपने 'चतुर्विंशतिसंधानम्' काव्य में एक ही श्लोकद्वारा सभी तीर्थङ्करों को नमस्कार करने का चमत्कार दिखाया था। भ० नेमि के प्रसंग में उनके वैराग्य और ऊर्जयन्त पर जा कर तप-तपने का उल्लेख उन्होंने किया।[2]

ऊर्जयन्त गिरिनार की प्रसिद्धि तीर्थरूप मे होने पर नाना यात्री वंदना को आने लगे थे। विद्याधरवंश के प्रसिद्ध पुरुष भी यहाँ आते थे। भ० नेमि के तार्थ में नागकुमार प्रसिद्ध थे। 'णायकुमार चरित्र' में लिखा है कि नागकुमार ने ऊर्जयन्त की वन्दना की थी। उसमें यह यात्रावर्णन इस प्रकार लिखा है:—

'चिपइकडय कीलिय सुरकंतहो, अण्णहिं वासरेगउ उज्जितहो।
जिणवत्थावहारवउ संसिवि, लक्खणपंति फुरंति णमंसिवि॥

---

१ उत्तर पुराण में भी यही लिखा है—
शिविकां देवकुर्व्याख्यामारुह्यामर वेष्टिताम्।
सहस्राम्रवने षष्ठानशन श्रावणे सिति ॥१६६॥७२॥' —इत्यादि

२ 'श्रीद्रुमांके राज्यलोलुप वासुदेव निर्मापित वाटस्थ नाया जीवराशि पूत्कृतिमाकर्ण्य उत्थः उत्पन्नः धर्मो दयालक्षणो यस्य स श्री द्रुमांकोत्थधर्मः। स्वणर्धमेते सत्वाहन्यन्ते इति श्रुत्वाधिगियवाहं धिग् राज्यं चेतिमत्वा ऊर्जन्तमाजगाम इति।'

—श्री चतुर्विंशति संधानम् (शोलापुर) पृ०१२६

णाणसिलहिं णियणाणंडचलु थोइउ वयजलेण कउ णिम्मलु।
सिहरे पाविय केवलणाणइं, वंदिय मुणिवरणिव्वुइठाणइं॥
धित्तदेह कक्कर दरि दुग्गइं, सुरकामिणि भवपावण मग्गइं।
बिरइबंभणि हव्वुद्देसइं, थाण गयप्फल णिमरुकसइं॥
डिंतयभय हरणेक्कविहाणइं, जोइय जक्खिणिलयणिव्वाणइं।
दीणाणाहंदिण्ण धणपउरहो, पुणुआयउ सुन्दरु गिरिणयरहो।'[1]

महाकवि पुष्पदन्त ने ऊर्जयन्त यात्रा का ऐसा जीवित चित्रांकण किया है, जिसमे भासता है कि उन्होंने गिरिनार की यात्रा की थी। उन्होंने लिखा है कि एक दिन नागकुमार परिजनों सहित ऊर्जयन्त की वन्दना करने गये। पहले ही उन्होने उस स्थान की वंदना की जहां जिनेन्द्र नेमि ने वस्त्रों को उतारकर दीक्षाग्रहण की थी। उपरान्त उन्होंने 'ज्ञानशिला' की वन्दना की, जो गिरिनार की शिखिर पर मौजूद थी और जहाँ भगवान ने केवल ज्ञान को उपार्जन किया था। इसके पश्चात् उन्होंने सभी मुनिवरों अर्थात भ० नेमि और प्रद्युम्न शम्बु आदि के निर्वाण स्थानों की वन्दना की थी। अंत मे उन्होंने यक्षीनिलय अर्थात अम्बिका देवी के मंदिरों को देखा था, जहां उन्होंने दीन अनाथों को दान दिया था। फिर वह गिरिनार आ गये! इस वर्णन से स्पष्ट है कि गिरिनार पर्वत पर भ० नेमि का दीक्षा स्थान, केवल ज्ञान प्राप्ति स्थान और निर्वाण स्थान अलग-अलग थे। अम्बा माता के मन्दिरों के पास ही अनिरुद्ध कुमार जी के चरणचिन्ह हैं, जिनको दिगम्बर जैनी पूजते हैं। पहले अम्बा देवी का मन्दिर जैनों का था यह उक्त वर्णन से स्पष्ट है। यह मान्यता आज भी है कि तीसरी टोंक शम्बुकुमार का निर्वाण-स्थान है और चौथी टोंक प्रद्युम्नकुमार का निर्वाण स्थल है। इन पर चरण और मूर्ति है जिनकों दिगम्बर जैनी भक्ति भाव से पूजते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रद्युम्न, शंम्बु आदि के निर्वाण स्थानों के साथ भ० नेमि के निर्वाण स्थान अर्थात पांचवी टोंक की वन्दना करने दिगम्बर जैन प्राचीन काल से आया करते थे। आजकल भी दिगम्बर जैनों के निकट नेमि निर्वाण स्थान का विशेष महत्व और मान्यता है। डा० बर्जेस ने जब दिगम्बर यात्रियों का वहां बाहुल्य देखा तो लिखा कि इसकी मान्यता दिगम्बर जैनों मे विशेष है।[2]

---

१ णायकुमार चरिउ (कारंजा) संधि ७ कडवक १० पृ० ७७।

2 "... ... Neminath or Aristanemi, Who gives his name to this Summit and to whom the Jainas consider the whole mount as sacred, is the 22nd. of their deified saints,

'हरिवंशपुराण' (६६।४१) में भी जिनेन्द्र नेमि के मन्दिर की उपासिका सिंहवाहिनी अम्बिका देवी का उल्लेख है। अम्बिका देवी का जीव भ० नेमि के समय में ब्राह्मणी अग्निला के नाम से प्रसिद्ध था। सौराष्ट्र के एक नगर में सोमशर्मा नामक ब्राह्मण रहता था। अग्निला उसकी धर्मात्मा पत्नी थी शुभंकर और विहंकर नामक उसके दो पुत्र थे। यद्यपि अग्निला जिनेन्द्र भक्त थी, परन्तु सोमशर्मा वैदिक मतावलम्बी था। उसने अपने स्वर्गवासी पिता का श्राद्ध किया—खाने पीने की खूब तैयारियां हुई। सोमशर्मा बाहर ब्राह्मणों को बुलाने गया। इधर मासोपवासी मुनि वरदत्त पारणा के लिए आये। अग्निला ने उनको पड़गाह कर विधिवत आहार दिया। उसके इस पुण्यकार्य की देवों ने सराहना की, परन्तु ब्राह्मणों को यह अच्छा न लगा और उन्होंने भोजन करने से इन्कार कर दिया। सोमशर्मा इस अपमान को सह न सका—वह लाल पीला होकर अग्निला पर टूट पड़ा और उसे घर से निकल जाने को कहा। अग्निला मर्माहत हुई घर से निकल पड़ी। अपने दोनों पुत्रों को साथ लिया और वह गिरिनार पर मुनि वरदत्त के पास गई। उनकी वन्दना की सहस्राम्र वन में वृक्षों के तले पुत्रों को लेकर बैठ गई। जब पुत्र भूख से व्याकुल हुए, तो उसे बड़ी चिन्ता हुई, किन्तु उसके पुण्य प्रभाव से आम के वृक्षों पर फल आगये और बच्चे पके हुए आमों को खाकर बहुत प्रसन्न हुए। इतने में ही नीचे उसके गांव में आग लगी, जिसके कारण सारा गाँव जल गया। केवल अग्निला का घर उसके पुण्य प्रभाव से बच गया। लोगों ने धर्म का महात्म्य देख कर उसे सराहा। सोमशर्मा को भी अपनी गलती सूझी और वह अग्निला को वापस लिवा लाने के लिए गिरिनार पर गया। अग्निला ने उसे आते हुए देखा, तो समझी कि वह उसे और ताड़ना देगा, सो एक शिखिर की ओर गई—वहां से वह गिरी और मर कर देवी हुई। सोमशर्मा भी उसके पीछे कूद पड़ा और मरकर निम्नकोटि का देव हुआ और अग्निला की सेवा में रहने लगा। अग्निला ने धर्म की महिमा देखी सो वह भ० नेमि की वन्दना करने आई और संघ की प्रशासन देवी के रूप में दुखी जीवों के कष्टों को दूर करने लगी। वह सिंहवाहिनी थी। एक हाथमें आम्रफल लिए थी। दूसरा हाथ उसके पुत्र शुभंकर के माथे पर था और गोद में विहंकर बैठा था। लोग उसे अम्बिकादेवी कह कर पूजने लगे और उनका मन्दिर बनाया

men, who,through their successful austerities,they imagine, have entered Nirvana and have done with the evils of existence. This one the favourite object of worship with the Digambaras or naked Jains.

— Burgess, The Report. p. 15

गया।[1] उसकी मूर्ति के शिरोभाग पर भ० नेमि की मूर्ति बनी होती है।

अम्बिकादेवी का यह रूप अलंकृत भाषा में भ० नेमि के विशिष्ट कार्यों का मूर्तिमान प्रतीक ही है। भ० नेमि के समय में हिंसा खुल कर खेल रही थी। युद्ध पर युद्ध होते थे। भ० नेमि ने अहिंसा का मार्ग लोगों को सुझाया-उन्हें शाकाहारी होने की शिक्षा दी। लोगों की गलत धारणा थी बिना पुत्र के परलोक नहीं सुधरता इस मिथ्या धारणा का भी भगवान ने अन्त किया था और नारी की मातृत्व रूप में सम्माननीय प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित किया था। अम्बिकादेवी के रूप में यह सभी बातें छुपी हुई हैं। उनका नारी रूप अहिंसा की मातृत्व भावना और अपार ब्रह्म शक्ति का प्रतीक है। अहिंसा के आधीन पशुबल रहे तभी लोक का कल्याण है, इसीलिए उनका वाहन सिंह है जो हिंसा का प्रतीक है। हाथों में आमों का गुच्छा शाकाहार की श्रेष्ठता बताता है। दो पुत्रों को लेकर यह बताया गया है कि किन पुत्रों के द्वारा परलोक सुधरता है? वे औरस पुत्र नहीं, बल्कि ज्ञान पुत्र शुभंकर (पुण्यकर्म) और विहंकर (शुद्धोपयोग मई कर्म) हैं। इनको पाकर ही मानव अपना कल्याण कर पाता है। यह है अम्बिका का रहस्यमई रूप! इसी लिए वह भ० नेमि की शासनदेवी है और उसका मन्दिर गिरिनार पर मौजूद है। गिरिनार के बाहर भी अम्बिका देवी की मूर्तियां बनाई गईं थीं।

'ज्ञानप्रबोध' एवं 'पांडवपुराण' के उल्लेखों[2] से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य भी गिरिनार की वन्दना करने आए थे।

एक बार मुनिराज सुधर्म गिरिनार पर विचर रहे थे- आहार में उन्हें कड़ुवी तुमड़ी दी गई तो उन्होंने समभावों से उसे गृहण कर लिया और स्वर्गलोक को प्राप्त हुए।[3] देवकी जी के छहों युगलिया पुत्र भी यहाँ से मुक्त हुए।

श्री धरसेनाचार्य जी गिरिनार की खण्ड गुफा में आकर रहे। गिरिनार पर निरंतर दिगम्बर मुनियों का विहार होता रहा, ब्र० जिनदास जी यही लिखते हैं:—

'जिनशासन निकलंक अपार, मारग मुक्तितणो भवपार।
दिगम्बर निर्ग्रन्थ गुरु चंग, जीवदया दीसे उत्तंग ॥४१॥'

—हरिवंश रास

उज्जैन में दिगम्बर जैनाचार्य विशालकीर्ति के शिष्य श्री मदनकीर्ति जी एक प्रख्यात प्रवादी थे—उन्होंने सभी वादियों को जीतकर 'महाप्रामाणिक·

---

१ 'अहिंसावाणी' का 'भ० अरिष्टनेमि विशेषांक'—पृ० ६५-६७

२ प्रवचनसार (रा० चं०ग्रं०) भूमिका पृ० ७ व ६

३ हरिवंशपुराण, ३३। १५५।

चूड़ामणि' विरुद को प्राप्त किया था। विक्रम सं० १२८५ के लगभग उन्होंने 'शासन चतुस्त्रिंशिका' नामक एक ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना की थी। उसमें उन्होंने गिरिनार तीर्थ के विषय में लिखा था:—

"सौराष्ट्रे यदुवंश-भूषण-मणेः श्री नेमिनाथस्य या,
मूर्ति मुक्तिपथोपदेशन-परा शान्ताऽऽयुधाऽपोहनात्,
वस्त्राभरणैर्विना गिरिवरे देवेन्द्र संस्था (स्ना) पिता,
चित्तभ्रान्तिमपाकरोतु जगतो दिग्वाससां शासनम् ॥२०॥"

अर्थ—"यदुवंशभूषण श्री नेमिनाथ तीर्थङ्कर की सौराष्ट्र (गुजरात) में गिरिनार पर्वत पर जो आयुध, वस्त्र और आभरण रहित भव्य, शान्त तथा मोक्षमार्ग का मूक उपदेश करने वाली मूर्ति सुप्रतिष्ठित है और जो देवेन्द्र द्वारा संस्था (स्ना) पित है, वह संसारी जन के चित्त की भ्रांति-अज्ञान को दूर करे और दिगम्बर शासन के महात्म्य को लोक मे प्रसृत करे गिरिनार पर्वत पर श्री नेमिनाथ तीर्थङ्कर की मनोज्ञ और शान्त दिगम्बर जिनमूर्ति बनी हुई है। वह मूर्ति इतनी भव्य और चित्ताकर्षक है कि लोग वहाँ जाकर उसकी बड़ी श्रद्धा से दर्शनादि करते हैं और उसके मूक उपदेश को सुनते हैं, जिससे उनके चित्त को बड़ो शान्ति और निराकुलता प्राप्त होती है ॥२०॥"[1]

इस वर्णन से स्पष्ट है कि जब यतिपति वदनकीर्ति ने गिरिनार की वन्दना की होगी, तब उन्होंने भ० नेमिनाथ की मनोज्ञमूर्ति के दर्शन किए थे। उसी का उल्लेख उन्होंने उपरोक्त प्रकार किया है।

महाकवि रइधू ने सं० १४९६ से पूर्व 'सम्मइजिनचरिउ' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उसकी प्रशस्ति में लिखा है कि सहजपाल द्वितीयादि पुत्रों द्वारा एक वृहद संघ गिरिनार की यात्रा के लिए निकाला गया था। 'यशोधर चरित' की प्रशस्तिमें भी उल्लेख है कि लाहड़पुर के निवासी साहु कमलसिंह ने गिरिनार की यात्रा का संघ चलाया था।[2]

श्री 'सुवर्णाचल महात्म्य' में लिखा है:—

'यथा त्रिवारं यदि वा यात्रां स स्वर्ण भूभृतः।
कुर्यात् स कैलाश गिरेर्गिरिनारस्य वै तथा ॥९॥'

कैलाश और गिरिनार पर्वतों की यात्रा की महानता का बोध इससे होता है। तभी श्रावक प्रतिदिन तीर्थवंदना प्रकरण में बड़ो भक्ति से कहता है:—

१ शासन—चतुस्त्रिंशिका, (सरसावा); पृ० १४-१५
२ वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ पृ० ४१४

'नेमिनाथ गिरिनारी वन्दूं, यादवकुल के भानू जी।
कोड़िबहत्तर मुनीश्वर वन्दूं सातसौ फणीवर वन्दूं जी।'

श्री ब्रह्मचारी नेमिदत्त ने भी 'नेमिनाथ पुराण' में गिरिनार का वर्णन किया है और उसका दूसरा नाम ऊर्जयन्तगिरि लिखा है। भ० नेमि ने वर्षायोग उसी पर बिताया, था उस पर पानी भरा रहता था। भ० नेमि को केवलज्ञान भी यहाँ ही हुआ और यहीं से वह मुक्त हुए, यह सब कुछ वर्णन उन्होंने इस पुराण में किया है। (श्री नेमिनाथ पुराण, सूरत, पृ० १५६-१ ७) ब्रह्म नेमि का मत है कि भ० अरिष्टनेमि का जन्म द्वारिका में हुआ। परन्तु उनसे प्राचीन ग्रन्थकारों ने भ० नेमि का जन्म स्थान शौरीपुर ही लिखा है।

'श्रुतावतार कथा' (पृ० ८२ श्लोक १०३-६) में भी श्रीधरसेनाचार्य को गिरिनार (ऊर्जयन्त) की चन्द्र गुफा में रहने का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है—

'देशे ततः सुराष्ट्रे गिरिनगरे पुरान्तिकोर्जयन्तगिरौ।
चन्दगुहा निवासी महातपाः परम मुनि मुख्यः ॥१०३॥'
'श्रीमन्नेमि जिनेश्वर सिद्धिशिलायां विधानतो विद्या।
संसाधनं विदधतोस्ययोश्च पुरतः स्थिते विद्ये ॥११६॥'

इस उल्लेख से भी स्पष्ट है कि जिनेन्द्र नेमि का निर्वाण स्थान अर्थात् पांचमी टोंक की सिद्धिशिला दिगम्बर जैनों में विशेष मान्य थी। इसीलिए श्रीधरसेनाचार्य ने भूतबलि और पुष्पबलि मुनियों से वहाँ जाकर ही मंत्र साधना करने के लिए कहा था।

श्रीधरसेनाचार्य जो का उल्लेख 'श्रुतस्कन्ध' (पृ० १९५) में भी इस प्रकार हुआ है—

'उज्जिन्ते गिरिसिहरे धरसेणो धरइ वयसमिदिगुत्ती।
चन्दागुहाइणिवासी भवियहु-तसु णमट्ठु पयजुगलं ॥८१॥'

इस प्रकार दिगम्बर जैन साहित्य में ऊर्जयन्त-गिरिनार का वर्णन मिलता है।

श्वेताम्बर जैनों के साहित्य में भी गिरिनार का वर्णन भ० नेमि के प्रसङ्ग में मिलता है। 'अन्तगडदसाओ' (पढ़मवग्गो) में लिखा है—

"तीसे णं बारबईणयरीए बहिया उत्तर पुरच्छिमे दिसीभाये एत्थ णं रेवयए नामं पव्वए होत्था। तत्थ णं रेवयए पव्वए नंदणवणे नामं उज्जाणे होत्था। सुरप्पिए नामं जक्खायतणे होत्था।"

भावार्थ— द्वारका नगरी के बाहर-उत्तर पूर्वीय दिशा में रेवय (रेवत) नामक पर्वत था। इस रेवत पर्वत पर नन्दन वन नामक उद्यान था। वहीं सुरिप्पिय का यक्ष मन्दिर था।'

इस ग्रन्थ में भ० अरिष्टनेमि, मुनि गजसुकुमाल आदि के प्रसंगमें सहस्राम्रवन और महाकाल स्मशानका भी उल्लेख है। 'विविधतीर्थकल्प' में गिरनार का उल्लेख रैवतकगिरि और ऊर्जयन्त के नाम से हुआ है। उसमें लिखा है कि छत्रशिला से पास भ० नेमि ने दीक्षा ली थीं, सहस्राम्रवन में उनको केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी और लक्खाराम में उन्होंने देसना दी थीं। अवलोकन शिखिर से वे मुक्त हुए थे। इन्द्रने गिरिनार पर सोने चाँदी के जिनमूर्ति व मंदिर बनवाये थे। अम्बादेवी का मंदिर बना था। मेघनाद जिनेन्द्र नेमि का भक्त था। नारायण कृष्ण ने निर्वाण स्थान पर सिद्धविणायक निर्माण कराया था। छत्रशिला घटशिला और कोडिशिला नामक तीन शिलायें प्रसिद्ध थी। 'श्री उज्जयन्त' में गिरिनार को गिरीश्वर कहा है। उज्जयन्त पर हीं ज्ञानशिला और निर्वाणशिला थीं।[1]

कम्हीर देश के अजित और रतन नाम के दो भाई संघ सहित गिरिनार की वन्दना को आये थे, यह भी कथन है। उन्होंने भ० नेमि की लेपमय प्राचीन मूर्ति का अभिषेक किया तो वह लग गई। उन्हें बड़ा परिताप हुआ इन पर २१ दिन का उपवास किया तो अम्बिकादेवी ने दर्शन दे प्रोत्साहित किया। रतन ने भ० नेमि की रत्नमई प्रतिमा विराजमान की। साहू भावड भी यहाँ आये और मंदिर बनवाया। जयसिंह और कुमारपाल राजाओं के समय में श्वेताम्बर जैनों के कई मंदिर पहली टोंक के पास में बने हुए मिलते हैं। श्वेताम्बर साहित्य में इनका विशद वर्णन है।

अणहिल्लवाडपट्टन से वीर धवल नरेश के राजमंत्री पोरवाड़ कुलमंडन वस्तुपाल तेजपाल जब गिरिनार संघ लेकर आये तो दामोदर और स्वर्णरेखा नदियों को पार करके ठहरे और उत्सव मनाया। उन्होंने भी कई मदिर बनवाये थे। उनके पुण्य कार्यों को बताने वाले काव्य ग्रन्थ मिलते हैं।

उदयनमंत्री ने चौलुक्य नरेश के साथ गिरिनार की यात्रा की थी। (प्रबन्धकोष, पृ० ४८)

रैवत शिखिर के सात क्षेत्रपति थे, जिनके नाम कालमेघ, मेघनाद, गिरिविदारण, कपाट, सिंहनाद, खोटिक और रैवत थे। (प्रबन्ध कोष पृ० ९६)

---

१ विविधतीर्थकल्प (सिंघी जैन ग्रन्थमाला) पृ० ६-१०

'उज्जितंसेलसिहरे दिक्खा नाणं निसीहिया जस्व।
तं धम्मचक्कवट्टि अरिष्टनेमि—नमंसामि।' —प्रबन्धकोष पृ० ४

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि रैवत अथवा ऊर्जयन्त पर्वत भ० नेमि के कारण जैनों का महान पूज्य तीर्थ रहा है। गिरिनार पर्वत का प्रारम्भिक भाग सभवतः रैवत नाम से प्रसिद्ध था, जहाँ यादव गण आकर आमोद-प्रमोद भी करते थे एव उसका ऊपरी भाग ऊर्जयन्त कहलाता रहा क्योंकि वहीं से प्रद्युम्न, शम्बु और नेमि भगवान मुक्त हुये थे। सामान्यतः सारा पर्वत इन नामों से परिचित रहा है।

दिगम्बर जैनों का प्राचीन केन्द्र और तीर्थ

'दंसणणाण चरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ।'

—कुन्दकुन्दाचार्य

\+ + +

णाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गु त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसहिं ।।'

—उत्तराध्ययन सूत्र

जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्-दर्शन-ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म का निरूपण जीवमात्र के हित के लिए किया और उसे 'मार्ग' अथवा मोक्षमार्ग' के नाम से उल्लेखित किया । जिस प्रकार मार्ग का उपयोग प्रत्येक प्राणी करता और इच्छित स्थान पर पहुँचता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग का आश्रय लेकर कोई भी महाभाग निर्वाण धाम को प्राप्त होता है । वह एक नैसर्गिक नियम है, किन्तु पंथ के मोही पथिक जिस प्रकार मार्ग के किनारे पर जहाँ तहाँ मनमाने पेड़ लगाते, प्याऊ रखते और विश्राम गृह जुड़ाते तथा उन पर अधिकार जमाते हैं, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में पड़कर भी कुछ पंथ मोही लोग अपने संघ गच्छादि बनाकर उस पर अधिकार प्रदर्शित करने लगते है। इस प्रकार के वे सत्य मार्ग से भटक जाते हैं । मार्ग एक है और उस पर गमन करने की रीति भी एक है—यह मुमुक्षु नहीं भूलते !

किन्तु लोक में मिथ्यात्व की कालिमा मानव को सत्य के दर्शन नहीं होने देती और बहका हुआ पंथी बाह्य भूल भुलैयों में भटका रहता है । यही कारण है कि लोक में नाना मत और पंथ मिल रहे हैं । जैन संघ में भी सम्प्रदायों-गच्छों और गणों की कमी नहीं है । किन्तु स्मरण रखने की बात है कि बाह्य भेष और मत उपादेय नहीं हैं—मोक्ष मार्ग है ।

भ० महावीर के समय में जैन इस सत्य को पहचानते थे—वे सम्यक् दृष्टी थे, प्रकृति के रूप में वे रहते थे । भ० महावीर स्वयं नग्न-प्रकृति रूप यथाजात रहे और उनके अनुयायी श्रमण मुनि भी । श्वे० 'आचरांगसूत्र' में भी यथाजात अचेलक भेष दिगम्बरत्व को परम धर्म कहा है । व्यवहार में जिनमूर्तियाँ भी नग्न बनीं और जैन मुनि भी नंगे विचरे-उनके पास परिग्रह

की कोई पोटली गाँठ नहीं थी, इसलिए वे निर्ग्रन्थ कहलाते थे। यह प्राचीन परम्परा अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी तक अक्षुण्ण रही। आज भी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही भद्रबाहु तक एक ही गुरुओं के उपासक हैं, किन्तु भद्रबाहु जी के बाद से स्थिति बदल गई।

बात यह हुई कि उस समय उत्तर भारतमें बारह वर्ष का एक भयङ्कर दुष्काल पड़ा। श्रुतकेवली भद्रबाहु ने पहले ही अकाल की विषमता को जान लिया था। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त को उन्होंने सारी स्थिति बताई, जिसे सुनकर चन्द्रगुप्त संसार से भयभीत होकर जैन मुनि हो गये। श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने बारह हजार शिष्यों सहित दक्षिण भारत की ओर चले गये। इस यात्रा में वे गिरिनार—शत्रुंजय आदि तीर्थों की वन्दना करते हुए दक्षिण को गये थे और श्रवणबेलगोल मे ठहरे थे। जिस पर्वत पर सम्राट चन्द्रगुप्त ने मुनिव्रत तप तपा था, वह उनके कारण कटवप्रके बजाय चन्द्रगिरि नाम से प्रसिद्ध हो गया। प्राचीन शिलालेखों और शास्त्रीय साक्षी से यह घटना आज सर्वमान्य है।[1]

जब उत्तर भारत में सुकाल हुआ तो बहुत से जैन मुनि स्वदेश को लौट आये, परन्तु उत्तर भारत में रहे मुनियों के नये रंगढंग को देखकर वे विस्मित हुए, उन मुनियों ने हाथ में डंडे ले लिए थे और वे घरों से आहार लाकर एक स्थान पर बैठकर खाने लगे थे। नग्नता को छिपाने के लिये उन्होंने एक खंडवस्त्र गृहण किया था, जिसे वे कलाई पर लटका कर निकलते थे। इसी कारण वे 'अर्द्धफालक' कहलाते थे। प्राचीन मुनियों के समझाने पर भी वे न माने और अपने नये भेष में चलते रहे। इस प्रकार प्राचीन जैन संघ में भेद का बीज उग खड़ा हुआ।

इस घटना का उल्लेख आचार्य हरिषेण कृत 'वृहत कथाकोष'[2] —श्री रत्ननन्दि कृत 'भद्रबाहु चरित्र'[3] नामक ग्रन्थो में मिलता है। उधर प्राचीन शिलालेखों से भी इसकी पुष्टि होती है। कंकाली टीला मथुरा से आज से लगभग दो हजार वर्षो पुरानी मूर्तियाँ मिली हैं और वे सब नग्न हैं। उनमें से कुछ पर श्वेताम्बरीय संघ और गच्छ के आचार्यो की नामावली अंकित हैं। इससे स्पष्ट है कि उस समय श्वेताम्बरीय पूर्वज नग्न मूर्तियाँ बनाते और उनकी पूजा करते थे।

कंकाली टीला से कुछ ऐसे प्राचीन आयागपट्ट भी मिले हैं, जिनमें जैन साधु यद्यपि नग्न बनाये गये हैं, परन्तु वे अपनी नग्नता को कपड़े के टुकड़े से छिपाते हुए अंकित किये गये हैं आचार्य हरिषेण ने भी यही लिखा

---

१ जैन शिलालेख संग्रह (मा० ग्र०) भाग १ भूमिका

२ वृहदकथाकोष, पृ० ३१७–३१६

३ भद्रबाहुचरित्र (सूरत) पृ० ७०-८५

क्यों कि दुष्काल के पश्चात जो साधु उत्तर भारत में रह गये थे वे कपड़े के टुकड़े (खंडवस्त्र) से अपनी नग्नता को छुपाते थे और दक्षिण हाथ में कमण्डलु अथवा भिक्षापात्र रखते थे।[1]

मथुरा के पुरातत्व में बोद्व (Vodva) स्तूप वाले शिलापट्ट में एक नग्न साधु अंकित हैं, जिसके हाथ की कलाई पर कपड़े का एक टुकड़ा पड़ा है। (देखो चित्र नं० १) इसके सम्बन्ध में डा० बुल्हर का हवाला देते हुए श्री चीमनलाल शाह (श्वे० विद्वान) ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि उक्त साधु नग्न हैं और अपनी नग्नता को खंडवस्त्र से छुपा रहे हैं।[2]

इसी प्रकार वहाँ की प्लेट नं० २२ में कण्हू श्रमण को नग्न अंकित करके उनकी कलाई पर खंडवस्त्र लटकता हुआ उकेरा गया है। श्वेताम्बर परम्परा में कण्हू श्रमण एक प्रमुख साधु हुए हैं। कण्हू श्रमण का दूसरा हाथ पीछी लिये हुये कंधे पर रखा हुआ, आयागपट्ट में दर्शाया गया है। वह किसी राजमहिषी को उपदेश दे रहे हैं। उनके पीछे एक नागकन्या खड़ी हुई है। (देखो चित्र नं० २)

श्री रत्ननन्दी जी ने भी 'भद्रबाहु चरित्र' में स्पष्ट लिखा हैं कि जब एक सेठानी निर्ग्रन्थ श्रमणों के नंगे रूप से डरी तो सेठानी की प्रार्थना पर उन साधुओं ने एक 'आधा वस्त्र' स्वीकार कर लिया, जिससे वह अपनी नग्नता छिपाने लगे। (धृत्वा सुश्लक शीर्षे परिधायार्द्ध फालकम्)

इसी प्रकार नैगमेश—पट्ट में भी, जो मथुरा के कंकाली टीला से ही मिला था, इस साधु का चित्रण अर्द्धफालक बेष में किया गया है। (देखो चित्र नं० ३) डा० बुल्हर ने उसके विषय में यही लिखा है—

> "At his (Nemesa's) left knee stands a small naked male, characterized by the cloth in his left hands an ascetic with uplifted right hand". (Ep Ind, II. 316)

पुरातत्व की इस प्राचीन साक्षी से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से यद्यपि

---

१ यावन्न शेभन: कालो जायते साधव: स्फुटम् ।
तावच्च वामहस्तेन पुर: कृत्वार्ऽर्धफालकम् ॥५८॥
भिक्षापात्रं समादाय, दक्षिणेन करेण च ।
सहीत्वा नक्तमाहारं, कुरुध्वं भोजनं दिने ॥५९॥ —काया नं० १३३

५. The Vodva stupa .... the male figure on the right of Dharmachakra is considered by Dr. Buhler to be that of a naked ascetic, who, as usual, has a piece of cloth hanging, over his right arm".

—Jainism in North India.

जैन साधु दिगम्बर (नग्न) भेष में रहते थे, परन्तु मौर्यकालीन दुष्काल के पश्चात ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों तक उनमें से कुछ अपनी नग्नता को छुपाने के लिए कपड़े का टुकड़ा काम में लाने लगे थे। इस प्रकार के साधुओं का संघ 'अर्द्धफालक' नाम से प्रसिद्ध हुआ था।

धीरे धीरे आगे चलकर इन साधुओं ने क्षुल्लक निर्ग्रन्थ के वस्त्रधारी भेष को अपना लिया। श्वे० आचाराङ्ग सूत्र में उस निर्ग्रन्थ साधु के जो निम्नकोटि का माना गया है, वस्त्र परिधान का विधान किया गया है। दिगम्बरीय शास्त्रों में लिखा है कि वि० सं० १३६ में श्वेताम्बर सम्प्रदाय बिल्कुल स्पष्ट हो गया था।

उधर श्वेताम्बर ग्रन्थ भी लगभग इसी समय दिगम्बर सम्प्रदाय को उत्पन्न हुआ बताते हैं। सारांशत: विक्रमीय द्वितीय शतीके पूर्वपाद में अखंड जैनसंघ दो बड़े बड़े सम्प्रदायों मे बट गया। प्राचीन शिलालेखों से स्पष्टत: विदित होता हैं कि दिगम्बर सम्प्रदाय पहले 'निर्ग्रन्थ श्रमण संघ' के नाम से प्रसिद्ध था—उपरान्तकाल में वह 'दिग्वास' और 'दिगम्बर' कहलाया। श्वेताम्बर पहले 'निर्ग्रन्थ श्वेतपट श्रमण संघ' कहलाया और फिर श्वेताम्बर नाम से प्रसिद्ध हो गया।[1] दिगम्बर प्राचीन नग्न मूर्तियों को ही पूजते रहे, परन्तु श्वेताम्बर जैनों ने साधुवेष की तरह मूर्तियों को भी सवस्त्र बनाया था।

जब ईस्वी प्रारम्भिक शताब्दियों में इस प्रकार क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ तो उसके प्रभाव से तीर्थ भी अछूते न रहे। नये विचारों के लोगों ने तीर्थों पर भी अपने सम्प्रदाय की छाप लगाने के लिए प्राचीन नग्न मूर्तियों के स्थान पर सवस्त्र मूर्तियाँ स्थापित करना चाहीं तो संघर्ष उठ खड़ा हुआ, गिरिनार क्षेत्र पर भी एक ऐसा प्रसंग प्रारम्भ में ही उपस्थित हुआ था, किंतु उस समय श्री कुन्दकुन्दाचार्य महान आचार्य थे, जिनका प्रभाव नये और पुराने—सभी विचार वाले जैनों पर एक समान था। उन्होंने सभी को समझाया और आँखों से दिखाया कि देखो भाई ! मूर्तियों की प्राचीन आकृति नग्न है—उसे अक्षुण्ण रहने देना चाहिये। उनकी यह बात सबको मान्य हुई और लगभग दसवीं-बारहवीं शताब्दि तक कोई भी सवस्त्र मूर्ति बनाई गई हो, ऐसा विदित नहीं होता। दिगम्बर शास्त्र कहते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने गिरिनार पर्वत पर स्थिति सरस्वती देवी की मूर्ति से यह घोषणा कराई थी कि दिगम्बर वेष (नग्न रूप) आर्ष और प्राचीन है। इस घटना से यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से ही गिरिनार दिगम्बर जैन

---

1 कदम्ब वंश के ताम्रपट में मथुरा के मूर्ति लेखादि में ऐसा ही उल्लेख है; जिसके लिए हमारा अंग्रेजी लेख देखिए जो 'जनरल ऑव दी यू० पी० हिस्टारीकल सोसाइटी' में छपा है।

मुनियों का केन्द्र रहा और यहाँ से ही उनके सरस्वती गच्छ की उत्पत्ति हुई।[1]

किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के बहुत पहले से भी ऊर्जयन्त गिरिनार दिगम्बर जैन मुनियों का केन्द्रीय तीर्थ रहा है। हम देख चुके हैं कि श्रुत-केवली गोवर्द्धन स्वामी और भद्रबाहु स्वामी भी यहाँ आये थे। मौर्य-सम्राट चन्द्रगुप्त उनके शिष्य थे। उस समय गिरिनार मौर्यसाम्राज्य के अन्तर्गत एक बड़ा प्रदेश था, जिसकी राजधानी जूनागढ़ (गिरिनयर) थी। चन्द्रगुप्त के बहनोई पुष्पगुप्त इस प्रदेश के शासक थे, जिन्होंने सुदर्शन झील बनाई थी। अंत में जब चन्द्रगुप्त श्री भद्रबाहु स्वामी के निकट दिगम्बर मुनि हो गये थे, तब वह गिरिनार की वंदना करने आए थे। इसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। इससे भी स्पष्ट है कि मौर्यकाल में भी गिरिनार दिगम्बर जैनों का एक मान्य तीर्थ था। उपरान्त अंग ज्ञान के ज्ञाता श्री धर-सेनाचार्य यहाँ रहे थे। यहाँ की चन्द्रगुफा में रहकर उन्होंने भूतबलि और पुष्पदंत आचार्यों को अंगज्ञान का बोध कराकर उसे लिपिबद्ध कराया था।

इस प्रकार श्रुतोद्धार के कारण दिगम्बर जैनों के लिए गिरिनार और भी अधिक पूज्य और मान्य हो गया। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य, उमा-स्वामि, स्वामि समन्तभद्र, वीरसेनाचार्य प्रभृति बड़े बड़े दिगम्बर जैनाचार्य गिरिनार पर आकर रहे थे। इस प्रकार प्रारम्भ से ही दिगम्बर जैन संघ का केन्द्र गिरिनार रहा है। सम्राट ऐल खारवेल के समय से ही मथुरा उज्जैन गिरिनयर (गिरिनार) और काञ्चीपुरम् जैन केन्द्र थे। श्वेताम्बर जैन संघ गुजरात के बल्लभीपुर में प्रबल रहा था और उनके निकट शत्रुंजय की मान्यता विशेष रही थी। दिगम्बर जैनों के उपलब्ध आगमसाहित्य के लिपिबद्ध करने के तीन चार सौ वर्षों बाद श्वेताम्बर जैनों ने बल्लभीनगर में ही अपने आगम ग्रन्थों की व्यवस्था और उद्धार किया था। इस प्रकार दिगम्बर जैनों के निकट गिरिनार एक पूज्य तीर्थ मात्र रहा हो—इतना ही नहीं बल्कि वह उनके संघ का केन्द्र स्थान भी रहा दिगम्बर जैनाचार्य उसका प्रबन्ध कराने में अग्रसर रहे। किन्तु मध्यकाल में जबकि दिगम्बर श्वेताम्बर भेद बिलकुल स्पष्ट होकर सुदृढ़ बन गया था, तब दिगम्बरों का यह अधिकार संघर्ष का कारण बन गया। स्वयं श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में इस संघर्ष का आभाव मिलता है।

---

१ नंदिसंघ की गुर्वावली में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार है—

"पद्मनंदी गुरूर्जातो बालात्कारगणाग्रणी।

पाषाण घटितायेन वादिता श्री सरस्वती ॥३६॥

ऊर्ज्जयन्त गिरौ तेन गच्छः सारस्वती भवेत्।

अतस्तस्मै मुन्नीद्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने ॥३७॥

इस प्रकार दिगम्बर संघ में सरस्वती गच्छ की उत्पत्ति ऊर्जयन्त से हुई।

भ० नेमि ने गिरिनार पर वस्त्राभूषणों का त्याग करके दिगम्बरीय दीक्षा धारण की थी। आगे पाठक पढ़ेंगे कि हिन्दू पुराण नेमि प्रभू की नग्नता का समर्थन करते हैं। इसी अनुरूप गिरिनार पर भी प्राचीनकाल में भ० नेमि की मूर्तियां दिगम्बर-भेष में ही थीं—यह बात श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से भी स्पष्ट है।

श्वेताम्बरीय साहित्य में पहले श्री रत्नमन्दिर गणिकृत 'उपदेश तरंगिणी' नामक ग्रन्थ को लीजिये। उसमें लिखा है कि 'सुराष्ट्र देश के गोमण्डल (गोंडल) नामक गाँव के निवासी धारक नाम के संघपति थे। वे शत्रुञ्जय की यात्रा करके जब गिरिनार तीर्थ की यात्रा को गये, जो कि ५० वर्षों से दिगम्बरों के अधिकार में था, तब वहाँ उन्हें खंगार नामक किलेदार से लड़ना पड़ा और उसमें उनके सातों पुत्र और सारे योद्धा मारे गये। उसी समय जब उन्होंने सुना कि गोपगिरि (ग्वालियर) के राजा आम हैं और उन्हें बप्पभट्टिनामक श्वेताम्बराचार्य ने प्रतिबोधित कर रक्खा है, तब वे ग्वालियर आये और अपनी बीती सब बातें बताईं। इस पर आम राजा आवेश में प्रतिज्ञा कर बैठे कि गिरिनार के नेमिनाथ की वन्दना किये बिना मैं भोजन ग्रहण नहीं करूँगा। वह तत्काल संघ सहित गिरिनार को चल दिये और खम्भात पहुंचे, वहां उनका शरीर खिन्न और क्षीण देखकर वप्पगुरू ने एक प्रतिमा मँगवा कर उनको दर्शन कराये। फिर आम गिरिनार पहुँचे या नहीं, यह स्पष्ट नहीं है। हाँ, इसके बाद उक्त ग्रन्थ में दिगम्बरों से एक वाद कराने का उल्लेख है, जिसमे अम्बिका ने श्वेताम्बरों को विजयी घोषित किया। इस तरह तीर्थ लेकर दिगम्बर श्वेताम्बर प्रतिमाओं मे नग्नावस्था और अञ्चलिका का भेद कर दिया गया।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि राखंगार के समय मैं भी गिरिनार पर दिगम्बर जैनों का अधिकार था—अर्थात् पर्वत के प्रबन्धक वे थे, गिरिनार की मूर्तियाँ दिगम्बर भेष में थीं और इस घटना के बाद श्वेताम्बरों ने अपनी प्रतिमाओं को वस्त्रलांछन से युक्त अञ्चलिकामय बनाना प्रारम्भ कर दिया दिगम्बर प्रतिमायें नग्न ही रहीं।

किन्तु श्वेताम्बरों के एक दूसरे ग्रन्थ 'सुकृतसागर' में एक और वर्णन मिलता है। उससे स्पष्ट है कि पेथड़शाह गिरिनार की यात्रा को आये थे। उनसे पहले वहाँ दिगम्बर संघ आया हुआ था। उस संघ के स्वामी दिल्ली निवासी अग्रवालवंशीय धनिक श्री पूर्णचन्द्र जी थे, जो शाह अलाउद्दीन द्वारा मान्य थे। (अलाउद्दीन शाखीनमान्य) पूर्णचन्द्र ने तीर्थ की वन्दना पहले करने का आग्रह किया, क्योंकि वह पहले आये थे और दूसरे वह तीर्थ को दिगम्बरों का बताते थे। उन्होंने कहा कि यदि वह श्वेताम्बर तीर्थ है तो भ० नेमि की मूर्ति पर अञ्चलिका और कटिसूत्र प्रकट करो, परन्तु श्वेताम्बर ऐसा न कर सके, उन्होंने कहा कि भगवान आभरण सहन नहीं कर

सकते । अन्त में तै हुआ कि जो अधिक धन देकर इन्द्रमाल ले, वही अधिकारी माना जाये। दिगम्बर बहुत बढ़कर बोली न बोल सके और श्वेताम्बरों को ही माला पहनने दी। दिगम्बरी यात्रा करके नीचे उतर आये।

उपर्युक्त घटनाओं से गिरिनार पर दिगम्बर जैनों का प्राबल्य और अधिकार स्पष्ट हैं। उनमें ऐतिहासिक तथ्य है, और उनसे यह प्रमाणित होता है कि धाराक के बाद जब अलाउद्दीन के समय में पूर्णचन्द्र जी वंदना करने आये तब भी वहाँ दिगम्बर जैन प्रबल थे। ग्वालियर के अम्मनृप का समय सन् ७२५ ई० है और अलाउद्दीन उनसे कई शतियों के पश्चात हुये। तीनों घटनाओं में गिरिनार की भ० नेमि की मूर्ति को आभरणादि रहित दिगम्बर लिखा है। अर्थात उस समय तक मूलनायक की मूर्ति में कोई फेरफार नहीं किया गया था। श्वेताम्बर जैनों में अपनी मूर्तियाँ वस्त्रलांछन युक्त उससे अलग बनाई—ऐसा प्रतीत होता है। दिगम्बर प्राचीन नग्न मूर्ति की यथाविधि पूजा करते रहे।

उपरान्त 'प्रबन्धकोष' नामक एक अन्य ग्रन्थ में, जो वि० सं० १४०५ का रचा हुआ हैं, श्वेताम्बराचार्य श्री राजशेखर सूरि ने रत्नश्रावक का प्रबन्ध लिखा हैं। उसमें कहा गया है कि कश्मीर देश के नवहुल पत्तन के निवासी रत्न नामक श्रीमंत जैन ने गिरिनार की प्रसिद्ध सुनी तो वह उसकी वन्दना करने आए। कुष्माण्डी देवी और सातों क्षेत्र पतियों की वन्दना की। फिर संघ रैवत पर्वत पर चढ़कर गया और वहाँ भ० नेमि की जो प्राचीन लेपमूर्ति थी, उसका जलाभिषेक किया। प्रतिमा लेप की थी, इस लिए वह गल गई। रत्न को बड़ी चिन्ता हुई। उसने उपवास माढ़ा तो अम्बादेवी प्रगट हुई और उनके निमित्त से रत्न श्रावक ७२ जिन प्रतिमायें प्रतिष्ठापित कराने में सफल हुए, जिसमें १८ सोने की, १८ रत्नों की, १८ चांदी की और १८ पाषाण की थीं। रत्न वंदना करके लोटे तो रत्नों की प्रतिमा साथ में ले गये।[1]

इस प्रकार गिरिनार पर विराजमान भ० नेमि की प्राचीन मूर्ति का अभाव हुआ था। ऐसा लगता है कि यही वह मूलनायक प्रतिमा थी, जो आभरणादि रहित नग्न वेष में थी। सभी जैनी उसकी पूजा वन्दना करते थे।

इन सब विवर्णनों का निष्कर्ष यही निकलता है कि प्राचीनकाल में जब दिगम्बर श्वेताम्बर भेद नहीं था, तब गिरिनार पर्वत पर जो मूर्ति स्थापित की गई थी, वह आभरणादि रहित नग्न थी। ईस्वी प्रथम शताब्दि में जब दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद स्पष्ट हो गया तब श्वेताम्बरों ने आभरणादि युक्त जिनबिम्ब गिरिनार पर बनाने का प्रयत्न किया और इसी पर संघर्ष

१ प्रबन्धकोष (बम्बई) पृ० ६३-६७

उठा। चूंकि दिगम्बर जैनों का केन्द्र गिरिनार प्राचीन काल से रहा, वे वहाँ प्रबल अधिकारी थे—राखंगार ने उनका संरक्षण किया था—इसीलिए प्रारंभ में श्वेताम्बर हतप्रभ रहे। किन्तु जब सिद्धराज ने गिरिनार पर अधिकार कर लिया तब श्वे० जैनों का भी वहाँ प्राबल्य हो गया। दिगम्बर जैनों के साथ-साथ उन्होंने भी अपने मन्दिर बना लिए और दोनों ही अपने अपने मन्दिरों-मूर्तियों की पूजा और प्रबन्ध करते रहे।
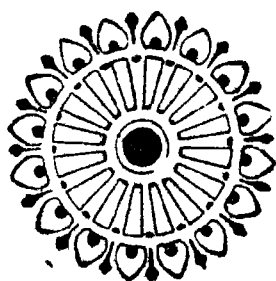
वैदिक साहित्य में गिरिनार ।

"सुराष्ट्रदेशो विख्यातो गिरी रैवत को महान् ।
भवः स्वयंभूर्भगवान्क्षेत्रो वस्त्रापथे श्रुतः ॥११॥१०॥

उज्जयंतगिरेर्मूर्ध्नि गौरीस्कन्दगणेश्वरा ।
भावयतो भवंसर्गे संथिता ब्रह्मवासरम् ॥१२॥"

—स्कन्द पुराण

रैवतक और ऊर्जयन्त पर्वतों का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी मिलता है । वहाँ उसमें 'वस्त्रापथ' नामक तीर्थ का भी वर्णन उपलब्ध है, किन्तु यह वर्णन पुराण साहित्य में ही किया गया है । वेद, रामायण और महाभारत में इनका उल्लेख प्रायः नहीं मिलता ।

'महाभारत' (आदिपूर्व)[1] में अर्जुन की तीर्थ यात्रा प्रसंग में यह वर्णन अवश्य है कि जब तीर्थों की वन्दना करते हुए अर्जुन प्रभास क्षेत्र पहुँचे, तो कृष्ण ने उनके शुभागमन की बात सुनी । कृष्ण अर्जुन को प्रभास पर्वत से लेने आये और उन्हें साथ लेकर कुछ दिनों तक रैवतक पर्वत पर आमोद प्रमोद करते हुए रहे । उपरान्त द्वारिका गये । एक बार कृष्ण, भोज और अन्धकवंश के यादवों ने रैवतक पर्वत पर बहुत बड़ा उत्सव मनाया खूब नाच तमाशा हुआ । सुभद्रा भी आई तो कृष्ण की अनुमति से अर्जुन उसे हरकर ले गए । इस वर्णन से यह प्रकट नहीं होता कि कृष्ण के समय में भी रैवतक हिन्दुओं का तीर्थ रहा, वह तो आमोद-प्रमोद का स्थान अधिक था । जहाँ तीर्थों को गिनाया है, वहाँ भी इसकी गिनती तीर्थों में नहीं की है—तीर्थ के रूप में प्रभास पर्वत को गिना गया है, जो आजकल सोमनाथ के नाम से प्रसिद्ध है। 'वस्त्रापंथ' नामक तीर्थ का उल्लेख 'महाभारत मे नहीं है ।

युधिष्टर भी तीर्थ वंदना करते हुए प्रभास पर्वत पर ही आए थे ।[2] श्रीमद्भागवत में भी प्रभास तीर्थ का ही उल्लेख है, जहाँ यादव लोग तीर्थ

१ गीता प्रेस संस्करण, पृ० १६४-१६५
२ महाभारत (गीताप्रेस) पृ० ३०६

वन्दना करने जाते थे। यहां ही यादवों ने मद्यपान करके अपने को नष्ट किया था।[1] श्री विष्णुपुराण में भी प्रभास क्षेत्र का ही उल्लेख है। उसमें भी प्रभास पर यादवों में कलह होने का उल्लेख है, जिसमें वे नष्ट हुये थे।[2] इस प्रकार इन प्राचीन जैनेतर पुराणों में प्रभास क्षेत्र का विशेष उल्लेख मिलता है— तथापि रैवत क्षेत्र का भी सामान्य उल्लेख उनमें मिलता है, परन्तु वस्त्रापथ (गिरिनार) तीर्थ का उल्लेख उसमें नहीं है।

'स्कन्दपुराण' के प्रभास खंड में अवश्य ही गिरिनार का वर्णन मिलता है, किन्तु वह विशेष प्राचीन नहीं है। 'प्रभासखंड' में रैवतक पर्वत के आमोद-प्रमोद का स्थान कहा है, जहाँ तरह तरह के पेड़ और फलफूल आदि थे। देवता भी स्त्रियों सहित रमने के लिए वहाँ आते थे।[3] इस रैवत पर्वत को लक्ष्य करके ही वस्त्रापथतीर्थ का महात्म्य 'प्रभास खंड' में लिखा है।[4] उस वस्त्रापथ तीर्थ के निकट पातक-नाशनी सुवर्ण रेखा नदी और वहीं मृगीकुण्ड भी था। वस्त्रापथ 'सोमेश्वर लिंग' भी था और दामोदर कुंड भी। वहाँ ही सोमनाथ का उदयन्त (ऊर्जयन्त) पर्वत था, जिसके पश्चिम भाग में पर्वत था।[5] वहाँ के वृक्ष सोने के हैं, परन्तु पापी लोग उनको देख नहीं पाते। ऐसे रैवत पर्वत पर वामन नामक एक द्विज गया जहाँ दामोदर कुण्ड था, वहाँ उसने एक मास का उपवास किया। पंचाग्नितपी और शिलाचूर्ण को खाया। दामोदर के अतिरिक्त वहाँ पर ब्रह्म कुण्ड, कालमेघ, कालिका, भीमेश्वर, चक्रतीर्थ, क्षेत्रपाल, अम्बिका आदि भी थे। रैवत की विधिवता यात्रा करके वहाँ के सात कुण्डों में लोग नहाते हैं।[6] इस प्रकार रैवत और ऊर्जयन्त को अलग-अलग माना गया है तथा रैवत पर ही विशेष कुंड आदि माने गये हैं।

---

१ श्रीमद्भागवत (गोरखपुर) पृ० २११-२१२

२ श्री विष्णु पुराण (गोरखपुर) पृ० ४६० (प्रभास प्रययुस्सार्द्ध कृष्ण-रामादिभिद्वित)

३ स्कंदमहापुराण (बम्बई) पृ० ८६ (तस्मिन्स रमते देव स्त्रीभिः परिवृतस्तदा ....)

४ 'अथ ते संप्रवक्ष्यामि क्षेत्रगर्भं महोदयम्।
तद्वस्त्रापणमाहात्म्यं यत्र रैवतको गिरिः ॥१॥

\+ + +

सुवर्ण रेखा यत्रस्था नदी पातकनाशनी।
यत्र स्थितं मृगीकुंडं महापातक नाशनं ॥

५ सोमनाथस्य उदयन्तो (ऊर्जयन्तो) गिरिर्महान्।
तस्य पश्चिमभागे तु रैवतक इति स्मृतः ॥६८॥

६ स्कंधमहापुराण (बम्बई) पृ० २००-२०३

'स्कंदपुराण' में लिखा है कि कान्यकुब्ज (कन्नौज) में राजा भोज थे, जिनको एक मृगानना युवती मिली। उसका मुख मृग जैसा देखकर राजा हैरान था। एक मंत्रवादी से भेद ज्ञात किया। मंत्रवादी ने बताया कि सुराष्ट्र के रैवत पर्वत पर पत्नी सहित एक द्विजोत्तम रहता था। वे तर्पणादि कुछ भी नहीं करते थे। दोनों मरे तो मृग-मृगी हुये। वहाँ उद्दालक ऋषियों को वीर्यपात हुआ था। जिसे अनायास एक मृगी ने खा लिया, इसी कारण वह मृगानना स्त्री हुई। स्वर्ण रेखा में वह अपना मुँह देखते मनुष्य हो जावेगी भोज ने बस्त्रापथकी यात्रा की और स्वर्ण रेखामें मृगानना को मुँह दिखाया तो वह सचमुच सुन्दरी हो गई। भोज ने उनके साथ विवाह किया। इस कथन से स्पष्ट है कि स्कंदपुराण की रचना कन्नौज के राजा भोज के समय अथवा उनके पश्चात हुई थी। साथ ही इससे यह भी स्पष्ट है कि पूर्वकाल में रैवत पर्वत के आस पास ऐसे ब्राह्मण रहते थे, जो तर्पणादि क्रियाकांड नहीं करते थे। इस उल्लेख से जैन कथा की पुष्टि होती है, जिससे रैवत के निकट रहने वाले ब्राह्मणों को वैदिक क्रियाकांड का विरोधी लिखा है।

आगे स्कंदपुराण में वस्त्रापथ की उत्पत्ति के विषय में एक कथा दी गई है जो मनोरंजक है और उससे ऐसा भाषता है कि भ० अरिष्टनेमि की जीवन घटनाओंको लेकर ही वह लिखी गई है। कथा का सारांश इस प्रकार है। एक दफा कैलाश पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश बैठे हुये थे। उनमे परस्पर बड़प्पन पर झगड़ा हुआ ब्रह्मा कहने लगे मैं बड़ा और शिव कहते मैं बड़ा। शिव क्रुद्ध हो ब्रह्मा को मारनेके लिए उद्यत हुये, किन्तु विष्णु ने शांत कर दिया। ब्रह्मा मेरु पर चले गये। शिव कैलाश पर रह गये। दक्ष ने अपनी कन्या शिव को ब्याही।[1] शिव और पार्वती कैलाश पर आनन्द मग्न थे। एक दिन पार्वती ने शिवजी से पूँछा कि आप किस पुण्य कर्म से प्रसन्न होते हो? शिव बोले 'मैं उन लोगों से प्रसन्न होता हूँ जो प्राणियों पर दया करते हैं, सदा सत्य बोलते हैं और कुशील सेवन कभी नही करते हैं'।[2]

इसी समय ब्रह्मा आदि देवता वहाँ आ पहुचे। विष्णुने शिव से दैत्यों पर कृपालु होने की शिकायत की। शिवजी बोले 'भाई मुझे प्रसन्न होते देर नहीं लगती-जानते हो, मेरा यह स्वभाव है। यदि तुम्हें यह नागवार है तो लो मैं यह चला।' यह कह कर शिव उठकर चले गये। पार्वती जी खेद

---

१ स्कंधपुराण (बम्बई) पृ० २०७-२०८

'कैलाशं ते गिरिवरं समारूढाः सुरैर्वृताः।
अहं जेष्ठो अहं जेष्ठो वादीऽभूद् ब्रह्मरुद्रयोः। —इत्यादि

२ 'अभयं सर्व जंतूनां दानं देवि मम प्रियम्।
सत्यं तपः समाख्यातं परदारविवर्जनम् ॥१८०॥६॥

—स्कन्ध०, पृ० २१२

खिन्न होकर बोली, 'शिव के बिना बताइये, मैं कैसे रहूं' इस पर देवता शिव-जी को ढूंढने चले उधर शिवजी घूमते घामते रैवत पहुंचे और वहाँ पर उन्होंने सब कपड़े उतार डाले। वह शरीर से मुक्त होकर वहाँ पर अंतर्निहित हो रहने लगे। विष्णु पार्वती आदि वहाँ ढूंढते हुये पहुंचे। गिरिनार पर बैठकर पार्वती ने शिव-भक्ति के गीत गाये, जिससे प्रसन्न हो शिवजी ने उन्हें दर्शन दिये। देवताओं ने उनसे कैलाश चलने के लिए कहा। शिवजी इस शर्त पर चलने को राजी हुये कि सब देवता गिरिनार पर रहें, वह और पार्वती कैलाश पर जाँय। सबने यह शर्त मंजूर की। रैवतक पर विष्णु रहने लगे और उर्जज्यन्त पर पार्वती (अम्बा रूप में) रहीं।[1] गिरिनार पर शिवजी ने वस्त्र उतारे थे, इसलिए उसका नाम वस्त्रापथ पड़ा।

एक दिन वामन ब्राह्मण ने रैवत पर शंकर जी को आकाशसे आते हुये देखा। वह बिल्कुल दिगम्बर (नग्न) थे, बुद्ध के रूप और आकृति में वह दिख रहे थे—सर्वज्ञ और कृशाङ्ग थे।[2] यहाँ पुराणकारका अभिप्राय बुद्ध से जैन तीर्थंकर का ही मालूम होता हैं क्योंकि जैन तीर्थंकर दिगम्बर वेष में कृशाँग और सर्वज्ञ होते हैं। उस पर आगे चलकर 'स्कन्धपुराण' में इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया गया है कि वह तीर्थंकर नेमि का ही उल्लेख कर रहे है। उसमे आगे लिखा है कि वामन ने शंकर की उपासना करना विचारा। अतः उसने सूर्य के प्रतिबिम्ब में पद्मासन स्थिति सौम्य और दिगम्बर शिवजी का रूप देखकर उन महामूर्ति की प्रतिष्ठा करके पूजन की और अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए 'नेमिनार्थशिव' इस मन्त्र की जाप की।[3]

---

१ 'गताः संक्षेपतः सर्वे यत्र देवो महेश्वरः।
अधिरूह्य गिरेः श्रगमबादेवी व्यवस्थिता ॥२१२॥६॥
विष्णुर्मुदवा गरुत्मंत स्थितो रैवतके गिरौ।
स्तुतिं चक्रे सदा देवी जगुर्गीत सुसंयता ॥२०३॥ —इत्यादि

\+ \+ \+

वस्त्रापथमिदं क्षेत्रं भवो देवोऽत्र तिष्ठत।
तीर्थमेतन्मया प्रोक्तं भुक्ति-मुक्ति प्रदायकम्।' — इत्यादि

—स्कंधपुराण पृ० २१२

२ "यावत्पश्यति तं विप्रस्तावत्पश्यति शङ्करम्।
दिगम्बरं भवं देवं समंनादश्मगुंठितम् ॥४०॥१६॥
बुद्धरूपाकृतिं देवं सर्वज्ञं गुणभूषितम्।
कृशांगं जटिलं सौम्यं व्योममार्गे स्वयं स्थितम् ॥४१॥" —पृ० २२०

जिनेन्द्र का बुद्ध नाम भी जिनसहस्रनाम में है।

३ "वामनोपित तश्चक्रे तत्रतीर्थवगाहनम्।
याहग्रूपः शिवो दृष्टः सूर्यबिम्बे दिगम्बरः ॥६४॥१६॥"

दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यही होता है कि प्रकरणगत शिव से लेखक का अभिप्राय जैन तीर्थङ्कर नेमिनाथ से है। पहले वह उन्हें दिगम्बर वेषी सर्वज्ञ बुद्ध कहते हैं—फिर उनकी मूर्ति पद्मासन और दिगम्बर बताते हैं—साथ ही उन्हें सर्वज्ञ भी घोषित करते हैं। तीर्थंकर अभयदान के लिए प्रसिद्ध हैं—सब ही जीव उसके पास आकर समता भाव को प्राप्त होते है। शिवजी के प्रसंग में भी यही कहा गया है। अत: वह नेमिनाथ जी ही हैं।

आगे द्विजोत्तम वामन ने जो यहां शिवजी की उपासना और योग साधना की, उसके प्रसंग में भी 'स्कंधपुराण' में कहा है कि नरोत्तम वामन एकांत और निर्मल स्थान में अच्छे आसन से कृष्णा जिनसे परिच्छन्न होकर बैठा। वह द्विजोत्तम पद्मासन माढ़कर निश्चल नासादृष्टि लगा कर ही बैठा था—घर-बार, धन-धान्य और स्त्री पुत्र का मोह छोड़ दिया था। वह मौन जितेन्द्रिय था। वैष्णव माया से वह व्यक्त था। निराहार, जितक्रोध, संसार बन्धन से मुक्त, अर्द्धोन्मीलित नेत्रों से उस ब्राह्मण ने वहाँ योग साधना की।' इस वर्णन से स्पष्ट है कि गिरिनार पर नेमिनाथ जी को ही शिवजी का आदर्श माना गया और जैन साधु की योगचर्या की साधना का माध्यम व्यक्त किया गया है। 'कृष्णा जिनसे परिच्छन्न' बताकर पुराणकार ने स्पष्ट कर दिया है कि वह जिन भगवान नेमिनाथ का ही उल्लेख कर रहा है, क्योंकि 'कृष्ण' से यहाँ पर कृष्ण के वंशज' अर्थात् यादव अभिप्रेत है। भ० नेमि यादव-जिन थे ही। अथवा कृष्ण का अर्थ कृष्ण वर्ण के हो सकता है और भ० नेमि का वर्ण (श्याम) ही था। पहले पहले उन्हें सूर्य बिम्ब में स्थित इस कारण लिखा है कि सूर्य ज्ञान का प्रतीक है और पूर्ण केवल ज्ञान हो जाने पर तीर्थङ्कर की आभा सहास्राधिक सूर्यों की ज्योति से भी अधिक द्युतिमान होती हैं—अत: सर्वज्ञ नेमिरूपी शिव (जीवन मुक्त परमात्मा) सूर्यबिम्ब में स्थित ठीक ही लिखे गए हैं। इस विवरण से स्पष्ट है कि वस्त्रापथ तीर्थ का प्रादुर्भाव जिन शिवजी के आदर्श से हुआ, वे तीर्थंकर

पद्मासनस्थित: सौम्यस्तथा तं तत्र संस्मरन्।
प्रतिष्ठाप्य महामूर्ति पूजयामास वासुरम् ॥९५॥
मनोऽभीष्टार्थ सिद्धयार्थं तत: सिद्धिमवाप्तवान्।
नेमिनाथ शिवेत्येवं नाम चक्रे स वामन: ॥९६॥

१ वामनो वसतिं चक्रे भवस्याग्रेनृपत्तम।स्वर्णरेखा- जलेम्नत्वाभवं सम्पूज्यभावत:।
एकांते निर्मले स्थाने कण्टकास्थि विवर्जिते। कृष्णाजिन परिच्छन्न उपविष्टोवरासने: ॥
कृत्वा पद्मासनंधीरो निश्चलोऽभूदद्विजोत्तम:। विधायकन्धरा बंधसृजु नासावलोक क:।
ग्रहक्षेत्र कलत्राणं चिंता मुत्वा धनस्य च। मायांच वैष्णवीं त्यत्क्व कृतमौनो जितेन्द्रि:।
निराहारो जितक्रोधो मुक्त संसार बन्धन:। भुजो पद्मासने कृत्वा किंचिन्मीलित लोचन:।
(पृ० २२७)

नेमि ही थे। राजुल से नाता तोड़ कर वे रैवत पर आये और सहसाम्रवन में उन्होंने वस्त्र उतारकर दिगम्बर वेष धारण किया था। स्कन्धपुराण इसी घटना को शिवजी के प्रसंग में बताता है। इससे स्पष्ट है कि नेमिनाथ जी के दिगम्बर होने की मान्यता सर्वमान्य थी। शिवजी तो हमेशा नग्न रहे है, किन्तु प्रसंगवश उन्हें दक्षकन्या से विवाह करने के लिए दूल्हा भी बनाया है, क्योंकि नेमि भी दूल्हा बने थे। फिर शिव रूठकर रैवत पर्वत पर चले आते हैं। यह सब घटनाये तीर्थंकर नेमि की जीवन घटनाओं से मिलती हैं। तथापि हिन्दू पुराणकार शिवजी को बुद्ध, नेमिनाथ और कृष्ण जिन कहकर बिल्कुल स्पष्ट कर देता है कि वह भ० नेमिनाथ के आदर्श को ही उपस्थित कर रहा है। द्विजोत्तम वामन की साधना के वर्णन मे वह जैनों की योगचर्या का ही वर्णन करता है। इस प्रकार यहाँ शंका के लिए स्थान ही नहीं रहता कि वस्त्रापथ तीर्थ की स्थापना भ० नेमि जी को लक्ष्य करके ही की गई थी।

यह पहले लिखा ही जा चुका है कि 'महाभारत' 'विष्णुपुराण'—'भागवत' सदृश प्राचीन ग्रन्थों में वस्त्रापथ तीर्थ का उल्लेख नहीं मिलता। इन ग्रन्थों एवं स्कन्धपुराण से स्पष्ट है कि पहले शैव आदि बन्धुओं के निकट प्रभास तीर्थ की विशेष मान्यता थी, जो आज भी सोमनाथ के नाम से प्रसिद्ध है। उपरान्त ऐसा भासता है कि जब मुसलमानों के आक्रमण से सोमनाथ क्षत विक्षत हो गए, तब हिन्दुओं का ध्यान गिरिनार की ओर गया और उन्होंने वहाँ वस्त्रापथ तीर्थ की स्थापना की। किन्तु तीर्थ-स्थापना करते हुए उन्होंने सत्य को पूर्णतः निवाहा और चूँकि रैवत ऊर्जयन्त तीर्थंकर नेमिनाथ के त्याग तपस्या और ज्ञान एवं निर्वाण के कारण पवित्रपूत बना था—इसलिए उन्होने भ० नेमि को ही शिवजी के आदर्श रूप में चित्रित किया ! कितना सुन्दर उदाहरण है यह साम्प्रदाय समन्वय का।

इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं के निकट वस्त्रापथ, रैवत और ऊर्जयन्त तीन अलग स्थान थे और ऊर्जयन्त का विशेष महत्व उनके निकट नहीं था। वर्तमान की चौथी पाँचवी टोंको को संभवतः वे ऊर्जयन्त कहते थे। जिसके पश्चिम मे रैवत मानते थे। गिरिनयर (गिरिनयर) का उल्लेख उनके शास्त्रों में प्रायः नहीं मिलता।

वर्तमान रूप !

'छूती हैं स्वर्ग विमानो को कूटें गिरि की ।
पाषाण शिलाओं से भू—नींव जमी उसकी ।
पार्श्व बने हैं सुन्दर हरे-भरे बनराशि से,
अमित फलों से लदे वृक्ष हैं मनमोहक से ।'

आज के गिरिनार के दिव्य दर्शन करके कवि हृदय उसके यशगान में स्वतः मग्न हो जाता है । गिरिनार आज भी वैसा ही सुन्दर सौम्य और सुकृत का प्रेरक स्रोत है, जैसाकि आदिकाल में था । प्रकृति सौन्दर्य में ही वह सुहाता हो, यह नहीं उसका अपना आदर्श भी है जो मानव को "सत्यं शिवं सुन्दर" के दर्शन कराता है । यही गिरिनार का महत्व है ।

सौराष्ट्र की दक्षिण पर्वत-श्रेणी में गिरिनार अपनी निराली शान से इठलाता हुआ खड़ा है । उसका नाम तो बदला है—वह प्राचीन ऊर्जयन्त अथवा रैवत से गिरिनार कहलाने लगा है, परन्तु उसका रूप और रङ्ग वही है, जो पहले था । उसकी शिखरें नयनाभिराम जिनमंदिरों में समलंकृत हैं[२] काठियावाड़ में शत्रुंजय और गिरिनार ही ऐसे प्रसिद्ध तीर्थ हैं, जहाँ जैन श्रावक हजारों की संख्या में वन्दना करने आते है । उनका वर्तमान रूप आकर्षक है शिल्प और वास्तुकला का आश्चर्य कर प्रदर्शन यहाँ

---

१ Its pinnacles touch heaven's lofty face.
Its rocks the earth's foundation form.
Ever in bloom are the bushes that wave on its sides,
With fruits its trees are laden heavily.
—Tarikh -i-Sorath.

२ Among the special interesting hills of the Southern series are the Girnar, anciently Ujjayanta and Raivata, famous for the Jaina temples on its summit.'
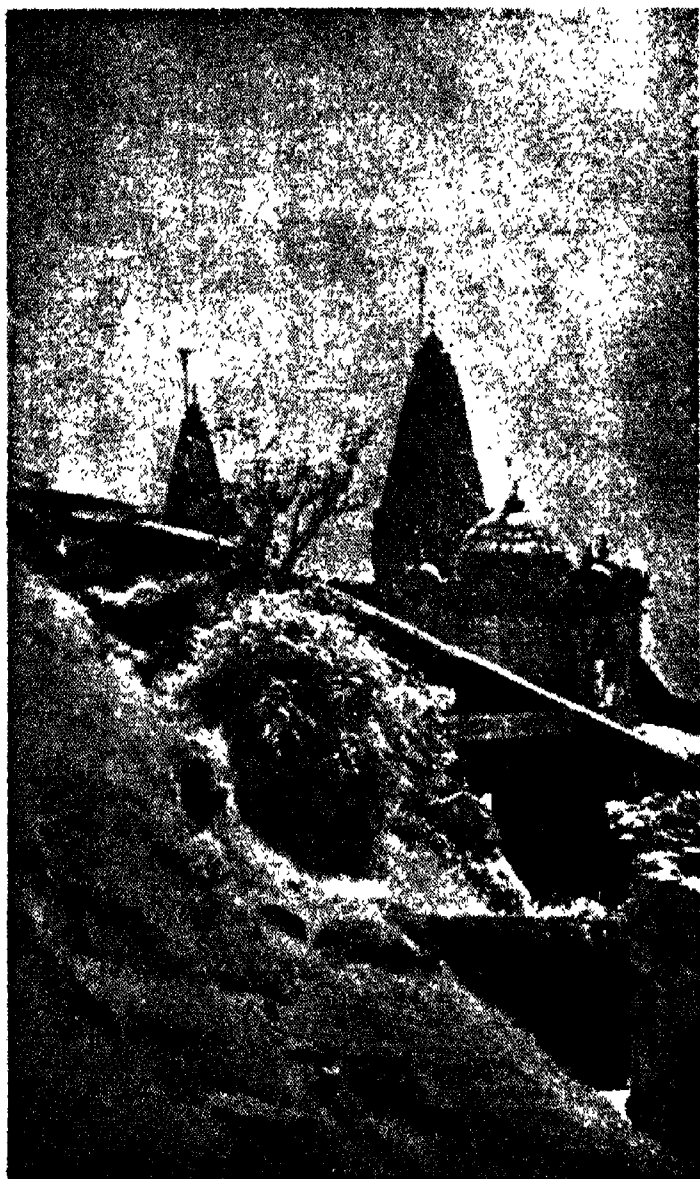
गिरिनार जी की प्रथम टोंक के क्षेत्र में
तीन दिगम्बर जैन मन्दिर

बाएं—

श्री गिरिनारकी प्रथम टोंक पर श्री दि० जैन मन्दिर जी के नीचे गुफा में राजुल की मूर्ति व नेमिनाथ स्वामी के चरणचिन्ह। दि० जैन कोठी के वकील हाथ जोड़े बैठे हैं।

दाएं—

श्री गिरिनार जी की पहली टोंक के दि० जैन मन्दिर में भ० बाहुबलि की प्राचीन दिगम्बर जैन प्रतिमा।

गिरिनार की पहली टोंक वाले दिगम्बर जैन मन्दिर मे विराजमान तीन अन्य
दिगम्बर जैन मूर्तियाँ

गिरिनारकी पहली टोंक पर स्थित दि० जैन मन्दिर में जिन मूर्तियाँ
(इस मन्दिर को प्रतापगढ़ निवासी श्री बन्डीलाल जी ने बनवाया था।)

मुनि अनिरुद्ध कुमार के चरण-चिन्ह
(अम्बिका देवी के मन्दिर के पीछे गिरिनार की दूसरी टोंक पर)

बायें—
श्री गिरनार की तीसरी टोंक पर मुनि श्री सम्बुकुमार जी के चरणचिन्ह ।

दायें—
श्री गिरनार जी की चौथी टोंकपर प्रद्युम्न कुमार मुनि की विशाल पाषाण खण्ड में दिगम्बर जैन प्रतिमा जी ।
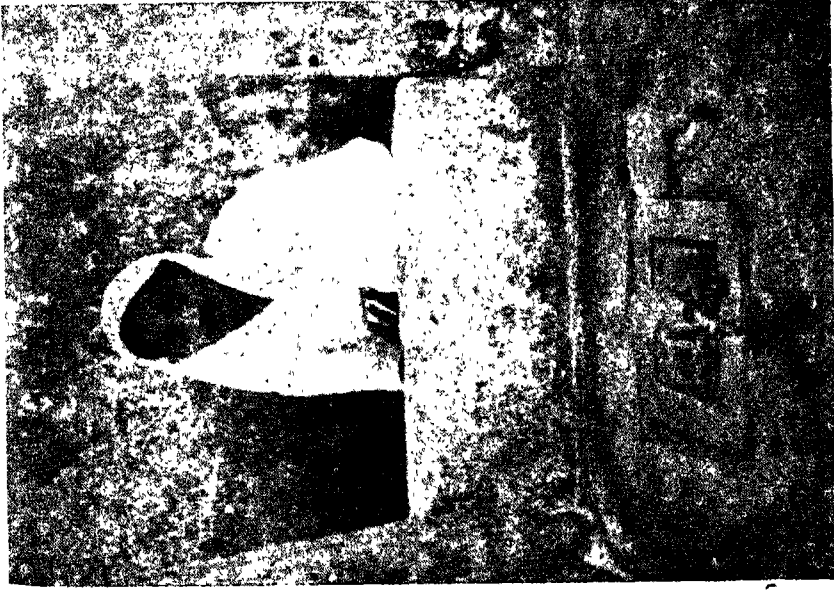
बायें—

अम्बिका देवी की मूर्ति
(सहेठमहेठ)

दायें—

अम्बिका देवी की मूर्ति
(ब्रिटिश म्यूजियम
लन्दन)

मिलता है ।[1]
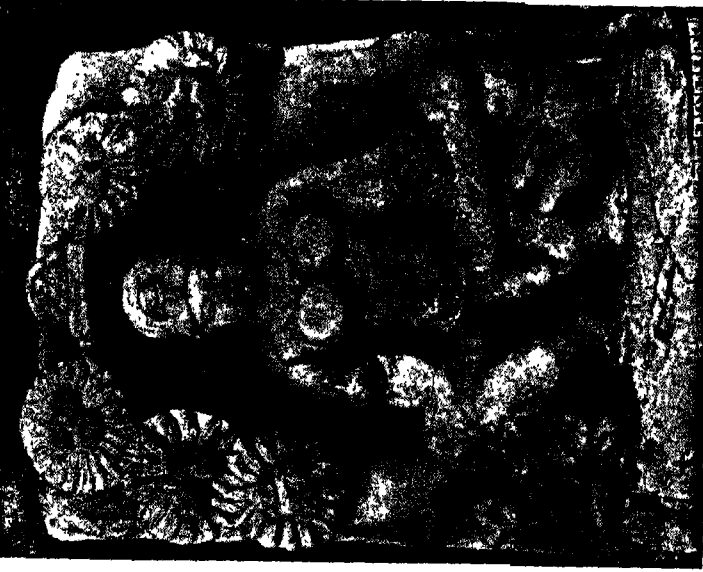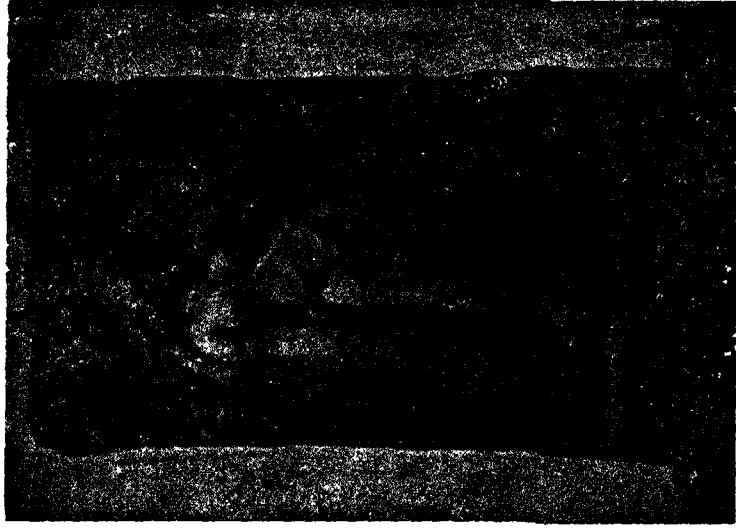
अपने वर्तमान रूप में गिरिनार मात्र जैनों का ही पावन तीर्थ नहीं रहा, वहाँ जैनेतर लोग भी पहुँचे हैं सोलंकी राजाओं के समय से अनुमान होता है, शैव और वैष्णव वहाँ पहुँचे और जब मुसलमान वहाँ के अधिकारी हुए तो मजार भी वहाँ बन गये । अँग्रेजी शासन में गौराङ्ग पर्यटक भी वहाँ पहुँचते रहे ।

जब ट्रेन जूनागढ़ के निकट पहुँची तो दूर क्षितिज में पाँच गगनचुम्बी पर्वत श्रंग दृष्टि पड़े । ये ही गिरिनार की शिखरें थीं । उनको देखकर ऐसा लगा कि लोक की रक्षा के लिए पाँच प्रहरी ही खड़े हों-लोक पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होकर ही दुख और पीड़ा को पाता है । गिरिनारकी पाँचों शिखरें मानों कह रहीं हैं कि 'मानव ! सावधान हो, देख ये पाँच लुटेरे हैं जो तुम्हारी स्वाभाविक निधि को लूट रहे हैं । हम पाँचों तुम्हारी रक्षा के लिए निरन्तर रहते हैं और उन लुटेरों को तुम्हारे पास तक नहीं आने देना चाहते ! तुम हमारी निकटता में भागकर आये हो तो लो यह ब्राह्मास्त्र अपने पास रक्खो। झिजको नहीं, यह तुम्हारे अपने ही हैं । अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह से सज्जित होकर, हे मानव तुम अपना और लोक का कल्याण कर सकोगे ।'

इन शिखिरों को जैनेतर लोग (१) अम्बा माता, (२) गोरखनाथ (३) ओघड़ शिखिर (४) गुरुदत्तात्रेय और (५) काल्का (जहाँ अघोरी रहते हैं) कहते है । जैनों के निकट ये पाँचों टोंकें पूज्य और पवित्र हैं । इन पर उनके मन्दिर अथवा चरण बने हुए हैं जिनकी वे पूजा और वन्दना करते । चूड़ासमास वंश के राजाओं के किले और महलों के खंडहर भी हैं ।

मन्दिरों के अतिरिक्त गिरिनार पर तीन कुण्ड भी प्रसिद्ध हैं, जो 'गोमुख', 'हनूमान धारा' और 'कमडलकुण्ड' कहलाते हैं । 'भैरवजप' नामक पाषाण एक दर्शनीय वस्तु है । पहले उस पर से कूदकर पाखंडी लोग स्वर्ग पाने के लोभसे अपने प्राण दिया करते थे, हो सकता है, यह वह स्थान हो कि जहां से अम्बिका का जीव अपने पूर्वभव में भागते हुये गिर कर स्वर्गवासी हुआ था । 'रेवतीकुण्ड' के ऊपर ही 'रेवताचल' पर्वत है, जिसकी तलहटी में अशोक के धर्मलेख हैं ।

---

१ 'In Kathiawar there are two famous places of pilgrimages to which Shrawakas or laymen of Jain faith resort in crowds. The first is the sacred hill of Shatrunjaya—the other is the Girnar m o u n t a i n.'
—J. W. Watson 'The Gazetteer of the Bombay Presidency', Vol. VII, p. 147

जैनेतर बन्धुओं ने गिरिनार की महत्ता को बढ़ाने के लिए सभी देवताओं को उस पर ला बैठाया है। विद्वानों का कहना है कि शिवजी के प्रसंग को लेकर उन्होंने मनमानी कथायें गढ़ लीं हैं।[1] मूल में गिरिनार भ० नेमि के निमित्त से पावन तीर्थ बना—यह सत्य जैनेतर पुराण से भी सिद्ध है।

इसीलिये जैनों के निकट गिरिनार प्राचीनकाल से पूज्य तीर्थ रहा है। तीर्थंकर नेमि की अहिंसा के अपूर्व आदर्श से गिरिनार सदा गुञ्जायमान रहा है। अशोक के बहुत पहले से तीर्थ रहा, यह पाठक देख ही चुके है।[2] आज भी जैनी ही उसे विशेष रूपमें मानते और पूजते हैं—वे बराबर प्रत्येक समय गिरिनार की वन्दना के लिए बड़ी संख्या में आते हैं।

जूनागढ़ से गिरिनार को जाते हुए मार्ग में पोलीटिकल एजेन्ट श्री सुन्दर जी का बनबाया हुआ पलासिनी नदी का सुन्दर पुल मिलता हैं। उससे थोड़ी दूर आगे चलने पर तलहटी आ जाती है, जहाँ दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनों के मन्दिरों और धर्मशालाओं के अतिरिक्त शैवादि मन्दिर और धर्मशाला भी है दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनों की धर्मशालायें सड़क की दोनों ओर आमने सामने हैं। दिगम्बरीय धर्मशाला के भीतर तीन जैन मन्दिर व वेदियां हैं। अब एक विशाल मानस्थम्भ भी बन गया है। एक मन्दिर व धर्मशाला जूनागढ़ शहर में भी हैं। इन मन्दिर और धर्मशालाओं की व्यवस्था "बन्डीलाल जी दिगम्बर जैन कारखाना श्री गिरिनार जी" नामक प्रबन्ध कमेटी द्वारा की जाती है। इस कमेटी की स्थापना का अपना

---

1 "The Brahmanas ever ready to consecrate with legend and pretended sanctity, what may conduce to their own profit, have not forgotten Girnar for about thirty chapters of the Prabhaskhand of the SkandhaPurana is devoted to the account of the sanctity of Girnar .... – This forms the Girnar Mahatmya, consisting chiefly of stories fabricated or copied from other pauranic legends by the Girnar Brahmanas." —James Burgess

२ .... the ancient Raivata or Ujjayant sacred among the Sravakas or Jaina sect to Neminatha, the 22nd in their list of Tirthankaras, and doubtless a place of pilgrimage even before the days of Asoka.' —J. Burgess, (Ibid, p. 145)

श्री गिरिनारजी पहाड़ पर चढ़ते हुए प्रथम टोंकके नीचे पर्वतके पार्श्व भाग पर
श्री दिगम्बर जैन प्रतिमा जी तथा धरणेन्द्र-पद्मावति पार्श्वनाथ

श्री गिरिनार जी की प्रथम टोंक पर गोमुखी कुण्ड के क्षेत्र में

श्री चौबीस तीर्थङ्कर भगवान के चरण-चिन्ह
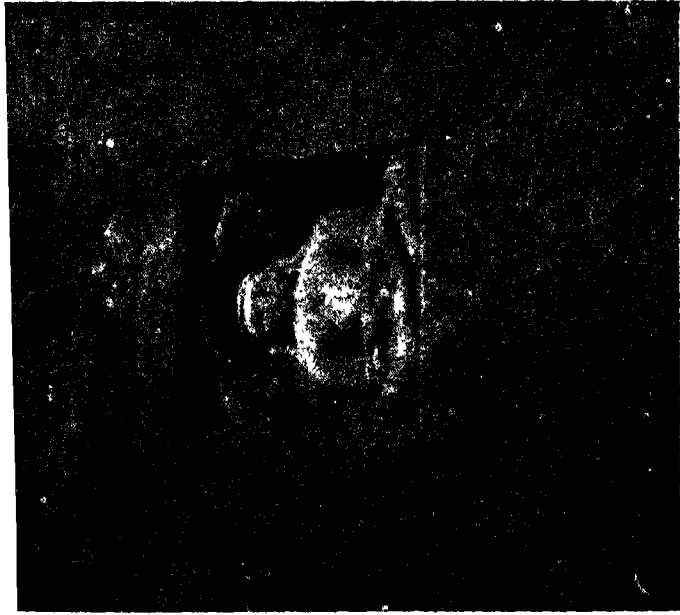
श्री गिरिनार जी पर्वत से उतरते हुए बाँई ओर
विशाल काले पाषाण-खण्ड में उत्कीर्ण
दि० जैन प्रतिमा जी

श्री राजुल की गुफा के आगे पहाड़ के खड़े भाग में
दो दिगम्बर जैन प्रतिमा जी

गिरिनार जी की चौथी टोंक पर
श्री प्रद्युम्न कुमार मुनि के चरणचिन्ह

इतिहास है, जिसे यहां लिखना उचित ही है।

पाठकगण यह तो पढ़ ही चुके हैं कि मूल में गिरिनार पर्वत पर मूलनायक भ० नेमिनाथ की मूर्ति आभरणादि रहित नग्न थी और गिरिनार-तीर्थ की व्यवस्था भी दिगम्बर जैन किया करते थे, किन्तु उपरान्त मध्यकाल में जब श्वेताम्बर जैनों का प्राबल्य गुजरात में हो गया और वे राज्यशासन में अधिकारी नियुक्त हुए, तो उन्होंने गिरिनार, शत्रुञ्जय आदि तीर्थों का प्रबन्ध अपने आधीन कर लिया। इतने पर भी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही मिल कर पूजा करते रहे। एक ही मन्दिर में दिगम्बरों की नग्न और श्वेताम्बरों की आभरणादि युक्त प्रतिमायें विराजमान रहतीं। दोनों ही सम्प्रदायों के लोग प्रेम से पूजा करते थे। किन्तु यह सुखद स्थिति बहुत दिनों तक न चल सकी। इन मन्दिरों में आभरणादि का परिग्रह ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों इनकी धार्मिकता कम होती गई और मालिक का प्रश्न जोर पकड़ता गया! धर्म और धन पूर्व और पश्चिम जैसे भिन्न और बिलक्षण तत्वों का एक साथ रहना असम्भव ही है। जब धन का अम्बार मन्दिरों में एक मात्र वीतरागता के उपासक दिगम्बरों की गति इन मन्दिरों में वैसे अबाध रहती? परिणाम स्वरूप संघर्ष फिर उठा, जिसने दिगम्बरों और श्वेताम्बरों को अलग अलग कर दिया। जहां एक ही मन्दिर में सभी जैनी मिलकर पूजादि धर्म कर्म करते थे, वहां वे अलग-अलग हो गए और नित नये झगड़े होने लगे और अब भी होते हैं। परन्तु यह तो जैनत्व नहीं है। अहिंसा धर्म तो लड़ना नहीं सिखाता। लड़ते वे हैं जो धर्म से विमुख होते हैं और धन को ही आराध्य मानते हैं।

गिरिनार की वन्दना करने दूर-दूर से लोग संघ लेकर आते थे। एक दफा वि० सं० १९१२ में राजस्थान के प्रतापगढ़ नगर से एक दिगम्बर जैनसंघ वहां आया। प्रतापगढ़ के दिगम्बर जैनों में बंडी नामक वंश प्रमुख और प्रसिद्ध रहा है। यह संघ उसी वंश के रत्न सेठ कस्तूरचन्द जी और सेठ हीरालाल जी के नेतृत्व में गिरिनार आया था। ये दोनों भाई सेठ वंडीलाल जी के पौत्र थे। जब ये भाई पूजा-वन्दना कर रहे थे तो श्वेताम्बरीय प्रबन्धकोंके द्वारा बाधा उपस्थित की गई, जिस पर उनसे कहा सुनी हो गई दोनों भाइयों को यह असह्य हुआ वे जूनागढ़ के नवाब सा० श्री मोहब्बत खां सा० से जाकर मिले। शिष्टाचार के रूप उन्होंने हजारों रुपये मूल्य का मोतियों का हार नवाब सा० के गले में पहना कर भेंट दिया। नवाब सा० बहुत ही प्रसन्न हुए। दोनों भाइयों ने अपनी कठिनाइयां उनको बताईं और मन्दिर एवं धर्मशाला के लिए जमीन चाही, अपना कारखाना पृथक करना चाहा, जिसे नवाब सा० ने देना सहर्ष स्वीकार किया। दोनों भाइयों ने मूल्य देकर ही जमीन ली और जूनागढ़ शहर तथा गिरिनार की तलहटी एवं पर्वत पर दिगम्बर जैन मन्दिर और धर्मशालायें बनाईं। श्वेताम्बर बन्धुओं को दिगम्बर भाइयोंको अलग होना

अखरा- इसीलिए उन्होंने बहुत अड़चनें डालीं, किन्तु नबाब सा० के सहयोग से सभी इमारतें बनकर तैयार हो गईं। नबाब सा० के दरबार में इन भाइयों को सम्माननीय पद प्राप्त हुआ और इनको नगर सेठ के समान कर देने से मुक्त किया गया।

दरबार के साथ-साथ दोनों भाइयों का सम्मान जनता ने भी किया। गिरिनार जी के मुनीम जी श्री बावलराम जी का कहना है कि जूनागढ़ की दशा श्रीमालीन्यात् के महाजनों ने भी जिन में वैष्णव, स्थानकवासी तथा श्वेताम्बर सभी सम्मिलित थे, दोनों भाइयों को सम्मानित किया अर्थात् न्यात् के मुखिया के बाद इनको माननीय माना। इन दोनों भाइयों ने भी वात्सल्य धर्म का परिचय देकर अनेकों बार दशा श्री मालीन्यात को निमंत्रित करके पंक्तिभोज दिया—कई दफा 'नवकारसी' भी कराई। 'नवकारसी की रसोई' का अर्थ है कि णमोकार मन्त्र बोलने वाली सभी जातियों की रसोई। सारांश यह बंडी बन्धुओं का समुचित सम्मान जूनागढ़ में हुआ। उनका सम्मान होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि धर्मात्मा सज्जन सर्वत्र मान्य होता है।

सेठ कस्तूरचन्द जी और सेठ हीरालाल जी बन्डी दोनों ही धर्म रसिक थे। धर्मपालन में स्वयं जागरूक हों, इतना ही नहीं, उन्हें इस बात का भी ध्यान था कि उनके साधर्मी भाइयों को भी धर्म साधना की सुविधा हो। इसीलिए वे संघ लाए और गिरिनार पर सुदृढ़ जिन मन्दिर और धर्मशालाएँ बनवाईं, जिनका प्रतिष्ठोत्सव शान से मनाया गया। उनकी मनोकामना पूरी हुई। जूनागढ शहर, तलहटी और गिरिनार की पहली टोंक पर जिन मन्दिरों को बनवाकर उन्होंने अपनी लक्ष्मी को सार्थक बनाया था। धन्य थे वे कि उन्होंने अपनी ही शक्ति और साहस से विरोध को चुनौती दी और धर्म ध्वज को हमेशा के लिए फहरा दिया।

उनके पश्चात वि० सं० १९८६ में रायबहादुर श्रीमन्त सेठ पूरनसाव जी सिवनी ने गिरिनार की तलहटी मे वेदी प्रतिष्ठा कराके घर-घर थाली भर-भर मिठाई बांटी थी। इसी प्रकार वि० १९८८ में इन्दौर निवासी सेठ श्री शोभाराम जो चुन्नीलाल जी के द्वारा भी तलहटी मे वेदो प्रतिष्ठोत्सव किया गया था। इस अवसर अर दसा श्रीमाली की न्यात तथा नवकारसी का भोज (रसोई) की गई थी।

वि० सं० १९६४ तक बंडीं बन्धुओं अर्थात सेठ कस्तूरचन्द जी और सेठ हीरालाल जीं एवं उनके पुत्रों ने स्वयं प्रतापगढ़ में रहते हुए तीर्थ का प्रबन्ध और व्यवस्था की, किन्तु उसी वर्ष सेठ मुन्नालाल जी ने तीर्थ का हिसाब 'जैन गजट' में प्रकाशित करा दिया और एक कमेटी चुनकर उसके हाथ क्षेत्र का सब काम सौंप दिया। यह कमेटी "श्री बंडीलाल जी दिगम्बर जैन कारखाना श्री गिरिनार जूनागढ़" के नाम से तीर्थ का सुधार

प्रबन्ध कर रही है। नियमानुसार कमेटी का मुख्य कार्यालय हमेशा के लिए श्री भाई जी के मन्दिर प्रतापगढ़ में तथा सभापति बंडी—वंश का कोई सदस्य होगा। तदनुसार इस समय श्री बंडी मिल्टन लाल जी बम्बई कमेटी के सभापति हैं। किन्तु कमेटी के संरक्षक श्रीमान दानवीर रावराजा सेठ हुकुमचन्दजी काशलीवाल सा० इन्दौर (अब स्वर्गवासी)है, जिन्होंने हमेशा तीर्थ पर दिगम्बर जैनधर्म के अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए कोई कोर कसर उठा न रक्खी है सचमुच आप धर्म के स्तम्भ हैं।

संवत् १९६४ में जब उक्त प्रकार कमेटी अस्तित्व में आई तो उसके पहले सम्माननीय सेक्रेटरी श्रीमान शाह अमृतलाल जी नियुक्त हुए, जिन्होंने बड़ी योग्यता के साथ तीर्थ की सुचारु व्यवस्था की। इस तरह प्रथम सेक्रेटरी की हैसियत से उन्होने कार्य को अच्छी तरह जमाकर गिरिनार तीर्थराज की २५ वर्षों तक बड़ी लगन के साथ सेवा की थी। ऐसे सेवाभावी तीर्थभक्त श्रावकरत्न के धर्मभाव से यह तीर्थराज उन्नतशील होता आया है। आजकल इस कमेटी के मन्त्री धर्मपरायण बन्धु श्रीमान सेठ फतहलाल जी खामगीवाला हैं, जो प्रतापगढ़ के एक प्रसिद्ध राजमान्य जैनकुल के नर रत्न हैं। यह कुल 'शाह जड़ावचन्द जी खासगी वालों का घरना' कहलाता है और अपनी राज्यसेवा एवं समाज सेवा के लिए विख्यात है। सेठ फतहलाल जी बड़ी लगन से तीर्थ की सार-सँभाल में संलग्न और सावधान रहते हैं।

इस प्रकार यद्यपि बंडी बन्धुओं के त्याग और उत्साह भाव से गिरिनार पर अलग दिगम्बर जैनों की स्थापना हो गई, परन्तु इसके साथ ही प्राचीन दिगम्बर जैन मन्दिर उनके हाथ से निकलकर श्वेताम्बर बन्धुओं के अधिकार में पहुँच गए। पहले पृथक होने के बाद भी इन प्राचीन दिगम्बर जैन मन्दिरों की पूजा वन्दना करने दिगम्बर जैन जाया करते थे, परन्तु अब वह बात नहीं रही। श्वेताम्बर बन्धु विरोध करने लगे तो नवाब सा० ने आदेश दिया कि यदि कोट के मन्दिरों में दिगम्बर मूर्ति हो तो वे उसके दर्शन के लिए जा सकते हैं। किन्तु राजशासन के हस्तक्षेप ने कटुता को बढ़ाया हो! यह था भी स्वाभाविक! क्योंकि विद्रोहभाव जागृत होने पर भी अपने पराए हो जाते है। श्वेताम्बर भाइयों ने चिढ़कर कोट के मन्दिरों में कोई चिन्ह दिगम्बर का रक्खा ही नहीं— न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी यह नीति अपना रंग लाई।

श्री बाहुबली स्वामी की प्राचीन दिगम्बर प्रतिमा पर जो कोट के भीतर विराजमान थी, बहुत झगडे होते थे। इनका अन्त करने के लिए सं. १९३५ में बाहुबलि जी की इस खडगासन दिगम्बर प्रतिमा को दिगम्बर मन्दिर में लाकर विराजमान किया गया। सहारनपुर निवासी ला० पार्श्वदास जी धर्मपत्नी श्री कुंवरबाई जी ने उनके लिए एक छोटा-सा मंदिर भी

बनवा दिया था।

इस प्रकार गिरिनार की तलहटी में दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनों के अलग अलग मन्दिर और धर्मशालयें बन गईं एवं दोनों ही अपने-अपने यात्रियों की ठीक से सार-संभाल करने लगे।

दिगम्बर जैन धर्मशाला से कोई सौ कदम के फासले पर पर्वत पर चढ़ने का द्वार है। जूनागढ के भूतपूर्व दीवान बेचरदास बिहारीलाल और डां० त्रिभुवनदास मोतीचन्द शाह के उद्योग से पत्थर की वजबूत सीडियां गिरिनार की चारों टोकों तक लगवाईं गईं थीं, यद्यपि उनके पहले भी जैनों ने उनको वँधाया था। सम्राट कुमारपाल को ऊर्जयन्त-गिरिनार पर चढ़ने का मार्ग सुगम करवाने की चिन्ता हुई थी। जब यह बात राजसभा में कही गई, तो यह निश्चय हुआ कि श्री राणिक के पुत्र सेनापति आम्र इस मार्ग को ठाक से बनवा सकेंगे। तदनुसार आम्र सोरठ के अधिनायक नियुक्त किए गए और उन्होंने पर्वत पर चढ़ने का सुगम मार्ग राजाज्ञा के अनुसार बनवाया था। उसी का पुनरोद्धार ब्रिटिशराज्य में युक्त प्रकार बनवा कर किया गया था। उपरोक्त द्वार से ही यह सीढ़ियां प्रारम्भ होतीं हैं। जूनागढ़ राज्य पर्वत पर चढ़ने का कर लेता था। लगभग तीन हजार से अधिक सीढ़ियाँ चढने पर इस पर्वत की पहली टोक का द्वार मिलता है यहीं पर 'सोरठ के महल' अर्थात राखङ्गार का उजड़ा हुआ आवास और कोट है। यहाँ पर एक धर्मशाला दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनों की है। कोट के भीतर अनेक प्राचीन जैन मन्दिर हैं, जिन पर अब श्वेताम्बर जैनों का अधिकार है। इस टोंक पर ही जैनों के मुख्य मन्दिर हैं—अन्य टोंकों पर छोटी-छोटी देवकुलिकायें और चरण चिन्ह हैं—कहीं कहीं पर्वत पाषाण मे उकेरी हुईं जिन प्रतिमायें हैं, जो प्रायः पद्मासन में दिगम्बर हैं। मार्ग में पर्वतारोहण के समय पर्वत के पार्श्व भाग में पद्मावती देवी सहित जिनेन्द्र पार्श्व की प्रतिमा है। ऐसी ही राजुल जी की गुफा के नीचे वाली चट्टान में भी हैं। इन मूर्तियों को पर्वत के पार्श्वभाग में ठौर ठौर पर उकेर कर मानों उसकी सामूहिक पवित्रता की छाप ही जैनों ने अंकित की है—सचमुच समूचा पर्वत ही जैनों के निकट पूज्य और पवित्र है। कोट के मन्दिरो में एक प्राचीन मन्दिर 'ग्रेनाइट' (Granite) पाषाण का है, जिसकी मरम्मत सं० ११३२ में सेठ मानसिंह भोजराज ने कराई थी। कर्नल टांड सा० ने यह मन्दिर दिगम्बर जैनों का बताया था।[1] इसमें अब सम्भवनाथ जो की प्रतिमा विराजमान है। श्री नेमिनाथ स्वामीं का एक

1 "To the East of the Devakota, there are several temples, the Principal being the temple of Mansingh Bhojraj of Kaccha—an old granite temple near the

श्री नेमिनाथ स्वामी के चरणचिन्हों पर बनी हुई देवकुलिका का दृश्य
(गिरिनार जी की पाँचवीं टोंक पर जो भ० नेमिनाथ की निर्वाण भूमि है।)

भ० नेमिनाथ की निर्वाण भूमि पर उनके चरणचिन्ह
(गिरिनार की पाँचवीं टोंक पर चरण जिनकी पूजा
दि० जैन कोठी के मुनीम जी कर रहे हैं)

गिरनार जी की पांचवीं टोंक पर चरण-चिन्हों के पीछे भ० नेमिनाथ की दिव्य मूर्ति
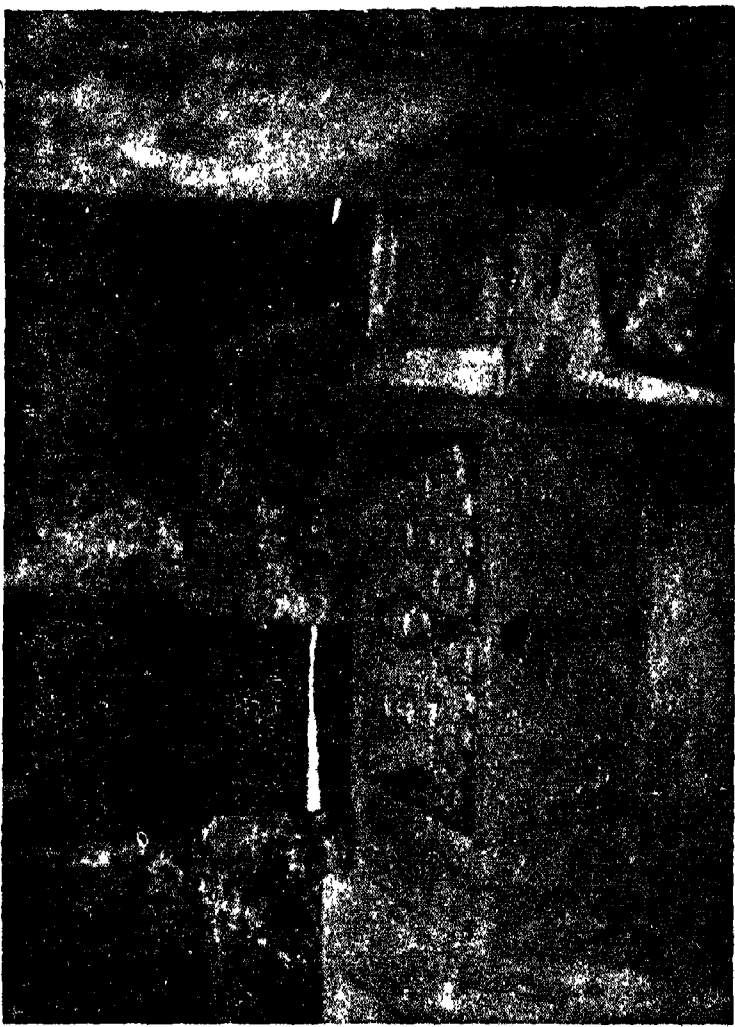
भ० नेमि के दीक्षा कल्याणक के चरणचिन्ह (सहसावन गिरिनार)

सहसावन गिरिनार जी में प्रथम डेरी का बाहरी दृश्य
(इसमें भ० नेमिनाथ के दीक्षा कल्याणक के चरण चिन्ह हैं।)
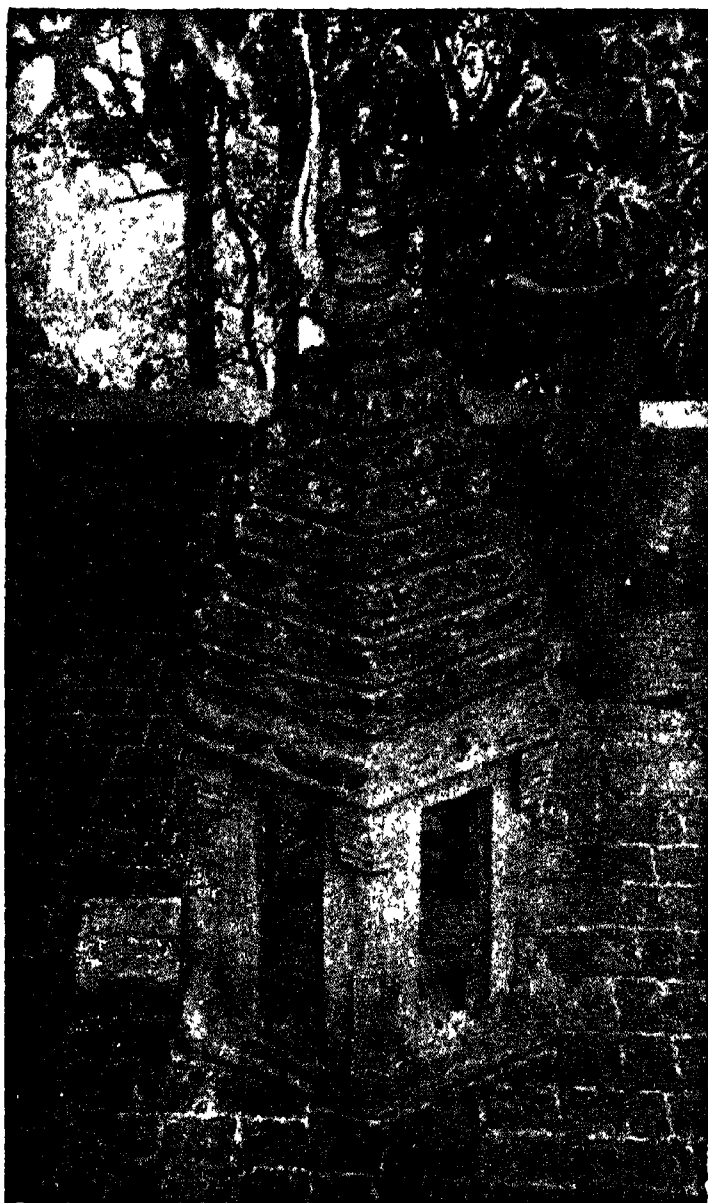
सहसावन गिरिनार जी में दूसरी डेरी का दृश्य
(इसके पीछे भ० नेमिनाथ के केवल ज्ञान-कल्याणक के चरण हैं।)

भव्य मन्दिर रा मण्डलीक का बनवाया हुआ है। मोरकवंशी समूह के मंदिरों में शिल्पकार्य दर्शनीय है। मन्दिरों का चौथा समूह संगराम सोनी का है। सम्वत १८४३ के लगभग सेठ प्रेमाभाई ने इन मन्दिरों की मरम्मत कराई थी। इनके आगे सम्राट कुमारपाल का मन्दिर है। इस मन्दिर के बाहर भीमकुण्ड के पूर्व में बहुत सी प्राचीन खंडित मूर्तियाँ पड़ीं हुईं थी। श्री अभिनन्दन जिन के उक्त मन्दिर के पश्चात सेठ वस्तुपाल तेजपाल के बनवाये हुये सुन्दर मन्दिर हैं। इन मन्दिरों में पीले रंग का बढ़िया पत्थर लगाया गया है। कहते हैं, यह पत्थर से० वस्तुपाल ने भारत वर्ष के बाहर से मँगाया था। इन तीनों मंदिरों के मूलनायक पार्श्वनाथ हैं। सेठ वस्पुपाल तेजपाल जी अपने संघ में कई हजार दिगम्बर जैनों को भी यात्रा—वन्दना के लिए लाये थे और इन मन्दिरों में दिगम्बर प्रतिमाओं के दर्शन करने यात्री जाते थे। उपरान्त सम्प्रति राजा का मन्दिर आता है, परन्तु इसमें प्राचीनता का चिह्न शेष नहीं है।

आगे मुड़कर चढ़ने पर दिगम्बर जैन मन्दिरों का समूह आता है - एक विशाल पर कोट में तीन दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। (१) सं० १६१५ का बना हुआ प्रतापगढ़ निवासी श्री बंडीलाल जी का है, जिसमें सं० १६६५ की प्रतिष्ठित श्री शान्तिनाथ जी की तथा दूसरी सं० १४७५ की सेठ जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति है, (२) शोलापुर वालों का मन्दिर और (३) सहारनपुर वालों का मन्दिर, जिसमें बाहुबलि स्वामी की सर्व प्राचीन खड्गासन मर्ति विराजमान है। परकोट में पर्वत का एक पार्श्वभाग में भी पद्मासन दिगम्बर जैन प्रतिमा उकेरी हुई है। दिगम्बरियों के इस मन्दिर समूह से नीचे की ओर जाने पर सती राजुल की गुफा मिलती है, जहाँ उन्होंने तप तपा था। दिगम्बर जैनी यहाँ ध्यान माढ़ते और वन्दना करते हैं—उनके लिए यह विशेष आकर्षण की वस्तु है। पर्वत के इस भाग का जो चट्टान है, उस पर भी दिगम्बर जैन मूर्तियाँ उकेरी हुईं हैं।

दिगम्बरीय मन्दिरों के आगे दाहिनी ओर चौमुखो मन्दिर है, जिसके आगे रथ नेमिका श्वेताम्बरीय मन्दिर आता हैं। यहाँ से ऊपर की ओर चढ़कर अम्बिकादेवी जी के मन्दिर को जाते हैं। अम्बिकादेवी के मन्दिर को जैन और वैष्णव दोनों पूजते हैं।[1] बर्जेस सा० का कहना था कि पहले यह मन्दिर जैनों का था।[2] इस मन्दिर की बगल में श्री सम्बुकुमार के चरण हैं। आगे बढ़ने पर वैष्णवों के आवास के पास ही एक देवकुलिकामें भी चरण चिह्न हैं। यहाँ से तीसरी टोंक पर जाया जाता हैं, जो इससे ऊँची है। इस पर भी चरणचिन्ह है। वहाँ से चौथी और पाँचवीं टोंक के दर्शन होते हैं

---

entrance gate which Tod call a Digamber Temple of Neminatha." —The Report, P.११६

१. दि० जैन डायरेक्टरी (बम्बई) पृ० ७६३-७६४ २. The Report p.१६५

चौथी टोंक को आने के लिए तीसरी टोंक से बिल्कुल नीचे ४००० फीट उतर जाना पड़ता है, क्योंकि चौथी और पांचवीं टोंकों के पर्वत अलग अलग खड़े हुए हैं। चौथी टोंक से मुनिराज प्रद्युम्नकुमार मुक्त हुए हैं। इस पर्वत पर चढ़ने के लिए सीढ़ियां नहीं हैं। वर्षा के पानी ने जो मार्ग सा बना लिया है, उसी के सहारे यात्री चढ़ते हैं। इसी कारण चढ़ाई बहुत ही कठिन है। टोंक के ऊपर एक काले पाषाण पर नेमिनाथ जी की प्रतिमा तथा दूसरी शिला पर चरण हैं। इसके आगे ही पांचवीं टोंक है, जिस पर एक मठिया में भ० नेमिनाथ के चरणचिन्ह हैं। जिस पाषाण पर चरण हैं उसी पर एक दिगम्बर जैन प्रतिमा भी (पद्मासन) में उकेरी हुई थी। यह शिखिर सबसे ऊँचा है और चारों ओर का दृश्य अत्यन्त मनोहारी है। हम इस पर पौ फटते ही पहुँचे थे-उस वेला की निस्तब्धता में अपूर्व शान्ति थी।

इस पाँचवीं टोंक के ऊपर चरणचिन्हों के पास ही एक बड़ा भारी घंटा भी बंधा हुआ है, जिसकी देखभाल एक नङ्गा वैष्णव साधु करता है। भ० नेमि के इन चरणों को वैष्णव लोग गुरु दत्तात्रेय के चरण कहकर पूजते हैं। किन्तु मूल में यह टोंक और चरण भ० नेमि से सम्बधित होने के कारण, से जैसे कि हिन्दू शास्त्रों से भी सिद्ध होता है,[1] जैन ही हैं। भ० नेमि के मुख्य गणधर का नाम भी दत्त था और वे इस टोंक पर भ० नेमि के साथ रहे थे। सम्भव है कि उन्ही दत्त को लक्ष्य करके वैष्णव इन चरणों को दत्त आत्रेय के बताते हैं। जो भी हो, यह निश्चित है कि पाँचवीं टोंक की मान्यता दिगम्बर जैनों में अत्यधिक है, क्योंकि यह निर्वाण भूमि है। बर्जेस सा० ने भी लिखा था कि दिगम्बर जैनों के लिए पूजा की यह विशेष वस्तु है।[2] भ० नेमि के कारण ही यह नेमिनाथ की टोंक कहलाती है। पूर्वकाल के दिगम्बर जैन लेखकों ने इसका उल्लेख किया है।

---

1 इस पुस्तक का छटा अध्याय पढ़िए।

2. "From this peak we descend four hundred feet to about the level of the Kamandala Kunda, a reservoir of water on the face of the hill and again climb a steep ascent that muscles of the the travellers legs toward the Guru Daitatray peak .. .. It has a small open shrine or pavilion over the footmarks or Paduka of Neminatha cut in the rock and was being ministered to by a naked ascetic. Beside it hung heavy Bell.

This Neminatha or Arishtanemi, who gives name to this summit and to Whom the Jains consider the whole mount as sacred is the 22nd of their defied saint—men who through their successful austerities,

'दिगम्बर जैन डायरेक्टरी' (पृ० ७६४) में लिखा है कि इस स्थान से गणधर वरदत्त मुक्त हुए थे, 'निर्वाणकांड' में वरदत्त जी का निर्वाणस्थान दूसरा ही बताया है !

इस टोंक से उतरने पर रेणुकाशिखर मिलता है और फिर कालिका की टोंक आती है। इन टोकों पर कोई जैनी नहीं जाता- इन का जाना भयंकर है।

इस प्रकार पांचवी टोंक की वन्दना करके यात्री वापस लौट कर दूसरी टोंक के चौराहे पर आता है. जहाँ गोमुखीकुण्ड के पास से दाहिनी ओर के मार्ग पर घूम कर वह सहसावन के लिए जाता है। गोमुखीकुण्ड में हमने चौबीस तीर्थङ्करों के चरण पट की वन्दना की थी—यहाँ पर्वत मे से एक जलधारा निरंतर बहती हुई उस पावन पट का अभिषेक करती रहती है। यह पट दिगम्बर जैनों के लिए पूजा की खास चीज है। यहाँ के दर्शन कर के यात्री सहसावन को जाता है।

सहसावन भ० नेमि का दीक्षा कल्याणक और केवल ज्ञान कल्याणक की द्योतक देवकुलिकायें बनी हुई हैं, जिनमें चरणचिन्ह बने हैं। यहाँ भ०

---

they imagine have entered —Nirvana and have done with the evils of existence. This one is the object of worship with the Digambara or naked Jains. His complexion they say was black & most if not all of his images here are of that colour, like all other Tirthankars he was of royal decent being the son of Samudravijaya, king of Sauryanagar or Siriyapuri in the country of Kusavarta and of the Harivansa race, his paternal uncle being Vasudeva, the father of the famous Krishna. At the age of three hundred he renounced the world and leaving Dwarka went to Girnar to spend the remaining seven hundred years of his long life in asceticism, he received his 'Bodhi' or highest knowledge whilst meditating at Seshavana, to the east of the Bherva Jap where footprints (paglan) are also carved some say Neminath's, others Ramananda's. His first convert was a king Dattatri to whom he became guru after which he gradually rose to the exalted rank of Tirthankara and finally attained Nirvana on this lovely pinnacle of rock which retains his name. He had as tutelerly Goddess in this lovely or familiar Devi-Ambika Mata the same to whom the old temple on the first summit is dedicated. The Mango tree is also appropriated to him by the Sravakas as his 'Bo-tree' *while* the Sankha or conch shell is his cognizance. He is infact the Krishna of Jains."

— James Burgess, Report ....,pp. 175-176.

नेमि के दो कल्याणक हुए इस कारण दिगम्बर जैनों के निकट इसका महत्व विशेष है। निस्संदेह इसकी यात्रा किये बिना भक्त अपनी वंदना पूरी हुई नहीं समझता। यह उद्यान बड़ा रमणीक है—एकाग्र ध्यान साधना के लिए यह एक सुन्दर निमित्त है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनोंका पूजा प्रक्षालका अधिकार बहाल रखा। निस्संदेह यह पवित्र स्थान तो जीवमात्र के लिए आत्मकल्याण का साधन है।

'सेसावन'—सहस्राम्रवन का अपभ्रंश है, जहाँ भ० नेमि ने तप तपा और ज्ञान पाया था। दिगम्बर जैनों में इसी कारण सेसावन की महत्ता विशेष है। जब संवत १९४८ में गिरिनार पर्वत पर चढ़ने के लिए किले की तरफ सीढ़ियां बनाई जा रहीं थीं, तब दिगम्बर जैनों का ही ध्यान सेसावन से नीचे उतरने के मार्ग पर सीढ़ियाँ बनवाने की ओर गया था। तदनुसार सहारनपुर निवासी दिगम्बर जैन बधु श्रीमान लाला शान्तलालजी ने पचास हजार रुपये डा० त्रिभुवनदास जी को इन सीढ़ियों को बनवाने के लिए दिये थे। दिगम्बर जैनों की दानशीलता से सेसावन से नीचे उतरने के लिए यह जंगल में होता हुआ मार्ग कुछ सीढ़ियों और विश्राम देहलियों के बन जाने के कारण सुगम हो गया था। इस मार्ग से चलना भी कम पड़ता है, परन्तु जंगल के कारण लोग कम आते हैं। हम सपरिवार इस मार्ग से ही नीचे उतरे थे। क्या ही अच्छा हो, यदि उन सीढ़ियों की मरम्मत करा दी जावे। वैसे सेसावन से लौटाकर यात्री पहली टोंक पर आकर उतरता है।

श्वेताम्बर जैनों में तलगृह में विराजमान अमीजरा पार्श्वनाथ जी की प्रतिमा प्रसिद्ध है, जिसकी ठोड़ी से एक बूंद पानी टपकता बताया जाता है। इस प्रकार गिरिनार अपने वर्तमान रूप में सभी प्रकार के लोगों के लिए आकर्षण की चीज रहा है, परन्तु जैनों के निकट उसकी मान्यता एक अत्यन्त प्राचीनकाल से रही है। यह कहना गलत है कि चूड़ासमास वंश के राजाओं के पश्चात जैनों का सम्पर्क गिरिनार से हुआ और तभी उन्होंने अपनी इमारतें बनाईं। वास्तव में जैनों के मंदिर और गुफा आवास चूड़ासमास वंश के राजाओं में आने के बहुत पहलेसे विद्यमान थे जैसे कि पूर्व पृष्ठों के उल्लेखों से स्पष्ट है। हम देख चुके हैं कि सम्राट चन्द्रगुप्त के समय भी गिरिनार पर जैन मंदिर विद्यमान थे। श्रुतकेवली गोवर्द्धन और भद्रबाहु यहाँ वन्दना के लिए आये थे और श्रीधरसेनाचार्य जी तो यहाँ चन्द्रगुफामें संघ सहित रहते ही थे। दिगम्बर जैन संघ का गिरिनार मुख्य केन्द्र रहा है। आपने इस रूप में गिरिनार जीवमात्र के लिए सुखशान्ति प्रदायक निमित्त रहा है भक्तजनों ने निरन्तर अहिंसा और सत्य के आलोक में बढ़ने के लिए गिरिनार से प्रेरणा पाई है।

उपसंहार।

'एवं तपस्य षट्पंचाशद्दिन प्रमे।
छद्मस्थ समये याते गिरौ रैवतकाभिधे ॥१७९॥७१॥
षष्ठोपवास युक्तस्य महावेणोरधः स्थितेः।
पूर्वेऽन्ह्यश्वयुजे मासि शुक्लपक्षादिमे दिने ॥१८०॥
चित्रायां केवल ज्ञान मुदरद्यत सर्वगम्।
पूजयन्ति स्म तं देवाः केवलावगमोत्सवे ॥१८१॥'

—उत्तरपुराणः

भगवान नेमिनाथ गिरिनार पर मुनि हुए और उनकी छद्मस्थ अवस्था के जब छप्पन दिन व्यतीत हो गए, तब आचार्य गुणभद्र स्वामी बताते हैं कि वह एक दिन रैवतक (गिरिनार) पर्वत पर तेला का नियम लेकर किसी बड़े भारी बांस के वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। निदान वहां ही उनको आसौज कृष्ण पड़िवा के दिन चित्रा नक्षत्र में प्रातः काल के समय समस्त पदार्थों का ज्ञान कराने वाला केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। इस समय देवों ने आकर केवल ज्ञान का उत्सव मनाया। इन्द्र ने समवशरण की रचना की—गिरिनार उस देवोपुनीत वैभव को पाकर सदा के लिए अमर हो गया। वह तीर्थ बन गया, क्योंकि उसके निमित्त स लोक को ज्ञाननेत्र मिला था। उसकी शिखिर पर समवशरण बड़ा ही सुन्दर शोभता था — वह त्रिलोक भुवनाश्रय जो था। सभी जीव वहां वरदत्तादि गणाधिपों के नेतृत्व मे[1] अभय और सुखी हुए थे। निस्संदेह गिरिनार अभयधाम बना था और आज भी इस पावनरूप को अपने गात में छिपाये हुए है।

भगवान नेमि ने समस्त आर्यलोक को प्रबुद्ध करके गिरिनार पर आकर ही योग निरोधा था। वहीं पर ही श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न, शम्भु और अनिरुद्ध नामक यदुवंशी राजर्षियों ने तप तपा और सिद्ध पद पाया था- गिरिनार के तीन कूट उनके निर्वाण धाम बने।[2] पहला कूट भ० नेमिका

---

१ 'बारदत्तादयोऽभूवन्नेकादश गणेशिनः।' इत्यादि

—उत्तरपुराण पृ० ३८७

२ प्रद्युम्नमुनिना सार्धं मूर्जयन्ता चलाग्रतः।
कूटत्रयं समारुह्य प्रतिमायोग धारिणः ॥१६॥

तपोवन रहा एवं पाँचवीं कूट से मुक्त हुए।[1] गिरिनार पर ही नारायण कृष्ण और बलभद्र एवं अनेक यादव नर-नारियों ने भ० नेमि से धर्मोपदेश सुना और अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार व्रत-संयम धारण किए। इस प्रकार ज्ञानाराधन और संयम साधन की पुनीत परम्परा गिरिनार का अवलम्ब ले अवतरित हुई। दिगम्बर जैन ऋषियों ने उसे अपना केन्द्रीय आवास बनाया। उपरान्त श्वेताम्बर जैन भक्तों ने उसकी शिखिर पर अपने वैभव को बिखेरकर त्याग भाव का परिचय दिया। इसके मोहन रूप से आकृष्ट हो जैन, हिन्दू और मुसलमान सभी उसकी वंदना करने आते हैं। सबही सम्प्रदायों के लोग गिरिनार को पवित्र और पूज्य मानते हैं और सभी सम्प्रदायिक कट्टरता भुलाकर अपने-अपने मतानुसार वन्दना भक्ति करते हैं। भारतीयता और मानवता का सुन्दर सम्मिलन गिरिराज पर होता हुआ दिखाई पड़ता है—विश्वप्रेम की पावनधार वहा बहती है। यह प्रेम और शान्ति चिरकाल तक रहे और सभी लोग निरपेक्ष होकर धर्म का लाभ गिरिनार से लेते रहें, हमारी यही कामना है। गिरिनार चिरकाल तक ऊर्जयन्त बना रहकर लोक कल्याण का प्रेरणास्रोत बना रहे—यही भावना है। जय हो ऊर्जयन्त की, गिरिनार की, नेमिनिर्वाण धाम की! अहिंसा धर्म चक्र प्रवर्तक क्षेत्र, यह गिरिनार सदा जयशील रहे। हम और सब उसकी नित्यवंदना करके शाश्वत सुख का उपभोग करें शासन देवि अम्बे का यह वरदान हो।

इतिशम् !

---

१ 'शुक्लध्यानं समापूर्य त्रयस्ते घाति घातिनः।
कैवल्यनवकं प्राप्य प्रापन्मुक्तिमथात्यदाः ॥१६८॥७२॥'

— उत्तरपुराण

२ 'भट्टारकोऽपि सम्प्रापदूर्जयन्तं धाराधरम्।
शीतांशोः सप्तमी पूर्वरात्रौ निर्वाणमाप्तवान।'